



बाजारवादी जीवन शैली और हिन्दी भाषा

प्रस्तुत शोधपत्र में बाजारवादी जीवन शैली और हिन्दी भाषा का अध्ययन किया गया है। बाजार का नाम सुनकर एक अलग छवि मानस पटल पर अंकित होने लगती है। समय के साथ-साथ बाजार के रूप भी बदलते रहे। देखा जाए तो प्राचीनकाल से लेकर बीसवीं सदी के छठे दशक तक बाजार का अर्थ केवल साप्ताहिक हाट, मेला चौक और चौराहों से संचालित दुकानें हुआ करता था। क्रय-विक्रय की इस प्रक्रिया में अन्य पुरुषार्थों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। प्रेमचंदजी ने बहुत पहले ही सतर्क कर दिया था कि इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई नीतियाँ चलाई हैं, उनमें सबसे अधिक घातक यही व्यवसाय वाला सिद्धांत है। मियां-बीबी में बिजनेस, बाप-बेटे में बिजनेट, बाप-बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस, सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त। बाजारवाद का प्रभाव आज हिन्दी भाषा पर भी दिखाई दे रहा है। बाजारवादी दर्शन को मानने वाले इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त विचारों को समाप्त किये बिना किसी को अपना गुलाम नहीं बनाया जा सकता है। कुँजी शब्द : बाजार, हिन्दी भाषा, महाजनी सभ्यता, बिजनेस, जीवन शैली, प्रतिस्पर्द्धा, विज्ञापन, हिन्दी में रोजगार आदि।

डॉ.अमित शुक्ल

प्रस्तावना :

बाजार का नाम सुनकर एक अलग उसकी छवि मानस पटल पर अंकित होने लगती है। समयके साथ-साथ बाजार के रूप भी बदलते रहे। देखा जाए तो प्राचीनकाल से लेकर बीसवीं सदी के छठे दशक तक बाजार का अर्थ था, साप्ताहिक हाट, मेला चौक और चौराहों पर संचालित दुकानदारी। क्रय-विक्रय की इस प्रक्रिया में अन्य पुरुषार्थों को सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। कहीं न कहीं आदर्श स्थिति था, कहा जा सकता है कि तब बाजार इतना कुरूप नहीं था। तब बाजार ऐसी जगह था, जहाँ कबीर जैसा दार्शनिक संत खड़ा होकर सबकी कल्याण कामना करता हुआ कह सकता था कि – कबीरा खड़ा बाजार में सबकी मांगे खैर। न काहू से दोस्ती न काहू से बैर। बाजार सबके हित में था, सभी ग्राहक बराबर। पर धीरे-धीरे बाजार का रूप बदलता गया और ग्राहक भी उसके अनुरूप ढलते और बदलते गए। बाजार का अपना सिद्धान्त है, वह प्रत्यक्ष जरूरत से प्रेरित नहीं होता, छिपी जरूरत अर्थात् लैटेंट नीड को पहचान कर चलता है।

वह छिपी जरूरत के लिए माल उत्पादित करता है। अक्रामक विज्ञापनबाजी से उसे प्रभावित करता है। इसलिए बाजार अब लोगों के घर के भीतर चप्पे-चप्पे में आ गया है। वह व्यक्ति के जेहन व वजूद में समाहित हो चुका है। बाजार जो आज हमारी आन-बान, शान और पहचान का कारण है। उसके अपने कारण है, क्योंकि बाजार आमंत्रित करता है कि आओ मुझे लूटो और लूटो। सब भूल जाओ मुझे देखो, मैं तुम्हारे लिए हूँ। नहीं कुछ चाहते हो, तो भी देखने में क्या हर्ज है। ऊँचे बाजार का आमंत्रण मूक होता है और उससे

चाह जगती है। चाह मतलब अभाव चौक बाजार में खड़े होकर आदमी को लगने लगता है कि उसके अपने पास काफी नहीं है और चाहिए और चाहिए। कहना चाहिए कि बाजार का आमंत्रण अत्यंत मोहक होता है।⁽¹⁾ आम जनमानस से लेकर बड़े से बड़ा बुद्धिजीवी वर्ग तक इससे प्रभावित है। उसकी जीवन शैली उस बाजार के अनुरूप ढल रही है। आम जनता जब तक उसके बाजारूपन को समझ पाती है, उसके पहले ही वह उसे अपनी गिरफ्त में ले चुका होता है। बाजारवाद का केन्द्र पैसा व व्यवसाय है, जिसके सामने शक्ति-नीति, नेह नाते कोई मायने नहीं रखते कुल मिलाकर महाजनी सभ्यता। प्रेमचंद जी ने बहुत पहले ही सतर्क कर दिया था कि इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई नीतियाँ चलाई हैं, उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त पिपासु यही व्यवसाय वाला सिद्धांत है। मिया बीबी में बिजनेस, बाप बेटे में बिजनेस, गुरु-शिष्य में बिजनेस, सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह नाते समाप्त। आदमी-आदमी के बीच अगर कोई लगाव है, तो वो बिजनेस का।⁽²⁾

बाजार में आज प्रतिस्पर्द्धा के स्थान पर कब्जा करने की प्रवृत्ति ने कैसे जन्म ले लिया, कुछ पता नहीं चला कि बाजार का ये रूप कब और कैसे बदल गया, पर ये सब भूमंडलीकरण के साथ प्रारंभ हुआ।

इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों और अन्य मीडिया की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। देखा जाए तो पिछले तीन, चार दशकों में भारत जैसे विकासशील देशों में भी दूरदर्शन, सिनेमा, समाचार पत्र, वीडियो आदि संचार माध्यमों से प्रसारित विज्ञापनों से खरीदारी की प्रवृत्ति बढ़ी है, क्योंकि जनता जो भी देखती- सुनती है या पढ़ती है, उसे खरीदने का मन उसे होता है।

सहायक प्राध्यापक (हिन्दी विभाग), शासकीय ठाकुर रणमत सिंह महाविद्यालय, रीवा (मध्यप्रदेश)

यह बाजार का धीमा और मनोवैज्ञानिक जहर है। इसे शुगर में लपेटकर मनुष्य को सिर्फ विक्रेता बनाया जा रहा है। इसका परिणाम आज ये हो रहा है कि बाजार ने परिग्रहवादी मन को संग्रहवादी बना दिया है।⁽⁵⁾

बाजारवादी जीवन शैली का हिन्दी भाषा पर प्रभाव :

बाजारवाद का प्रभाव आज हिन्दी भाषा में भी दिखायी दे रहा है। बाजारवादी दर्शन को मानने वाले इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त विचारों को समाप्त किये बिना किसी को अपना गुलाम नहीं बनाया जा सकता। ऐसे समय में जबकि बाजार समाज के हर व्यक्ति को उपभोक्ता में बदल देने को तत्पर हो। जीवन और संस्कृति के प्रत्येक कर्म, वाक्य शब्द को बिकाऊ उत्पाद में बदल देने का खतरा हो, भारतीय समाज के अपने मूल चरित्र को नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का खतरा स्वाभाविक है। सत्य यह है कि भूमंडलीकरण किसी नए समाज की सृष्टि नहीं कर रहा है, बल्कि विरासत में प्राप्त बहुमूल्य आदर्शों का पतन कर रहा है। भोगवादी संस्कृति ने मनुष्य को अनगिनत वस्तुओं की ओर आकर्षित किया है। यह एक विडंबना है कि आज लोगों के पास उपभोग की अनेक वस्तुओं को खरीदने के लिए धन है, बजट है, और अगर ये नहीं है, तो क्रेडिट कार्ड्स हैं, उधार की व्यवस्था, बैंकों से लोन लेने की व्यवस्था है, पर अगर बजट नहीं है तो वह पुस्तकों, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं के लिए नहीं। लोगों ने इन सब को बजट से अलग कर दिया है। इन सब के बावजूद आज बाजारवादी दृष्टिकोण ने हिंदी को विश्वपटल पर ला दिया है। भूमंडलीकृत सूचना प्रौद्योगिकी के उपकरणों ने हिंदी को बाजार की भाषा बना दिया है। इसके साथ ही बाजार भी अब हिंदीमय दिखने लगा है। हिंदी में विज्ञापनों की संख्या अत्यधिक हो गयी है। विदेशों में हिंदी फिल्मों के प्रति जहाँ एक ओर दर्शकों की वृद्धि हो रही है, वहीं दूसरी ओर विदेशी सिनेमा का हिंदी में डबिंग का कार्य तीव्र गति से हो रहा है और भारतीयों से अच्छी खासी रकम वसूली जा रही है। हिन्दी में रोजगार के अवसर बढ़े हैं। बाजारवाद के चलते आधुनिक जनसंचार के विभिन्न माध्यमों आकाशवाणी, दूरदर्शन, फिल्में, समाचार पत्र-पत्रिकाएँ एवं इंटरनेट के सभी माध्यमों में हिन्दी के विज्ञापनों ने एक नई जीवन्तता प्रदान की है। वह जनसम्पर्क की सर्वोत्तम विधा है, यह अंग्रेजी के एडवर्टाइजिंग, लैटिन शब्द 'एडभर' पर आधारित है, जिसका अर्थ है मस्तिष्क को अपनी ओर आकर्षित करना। विज्ञापन लेखक की भाषा पर पूर्ण अधिकार होता है। विज्ञापनों से हिन्दी के शब्दों का सामर्थ्य बढ़ा है। साहित्यिक प्रयोगों से विज्ञापन में एक नवीनता और आकर्षण का समावेश हुआ है। टेलीविजन कंपनियों में मनोरंजन प्रधान और सूचनाप्रद कार्यक्रम दिखाने की होड़ लगी हुई है।

सभी व्यावसायिक कम्पनियों अपने उत्पादनों का विज्ञापन, हिन्दी में देने को आतुर हैं। विश्व के सुप्रसिद्ध रेडियो स्टेशन वी. वी.सी. लन्दन, वायस ऑफ अमेरिका, रेडियो सिलोन, जर्मन रेडियो स्टेशन एवं विश्व के अन्य रेडियो स्टेशनों, एफ.एम. पर हिन्दी में विज्ञापनों का निरंतर प्रसारण किया जा रहा है। हिन्दी में विज्ञापन रचनात्मक व शैली प्रधान होते हैं। विज्ञापन की भाषा सरल, सुगम, एवं पठनीय होती है। वाक्य छोटे एवं बोलचाल की भाषा में आमतौर पर प्रचलित होते हैं। शब्दों के उच्चारण द्वारा नाटकीयता,

उभारी जाती है और थोड़े से शब्दों में श्रोता तक अपना संदेश पहुँचाया जाता है। विज्ञापनों की हिन्दी में उपमाओं, अलंकारों, मुहावरों, कहावतों, तुकबन्दियों का पर्याप्त प्रयोग कर आकर्षक बनाया जाता है। हिन्दी का असर केवल मनोरंजन की दुनिया तक ही सीमित नहीं है, बल्कि विज्ञान, साहित्य और रचनात्मक लेखन आदि में भी उपलब्ध है। पेंग्विन के बाद हापर कालिस ने हिन्दी साहित्य के प्रकाशन का रुख किया है, यह कदम निश्चित रूप से विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिन्दी के रुतबे को बढ़ाता है। 2005 में पेंग्विन पब्लिकेशन ने जन्त और अन्य कहानियाँ तथा शंकुतला के साथ हिन्दी के क्षेत्र में कदम रखा था। तब से अब तक वह कई पुस्तकों को हिन्दी में प्रकाशित कर चुका है और अनेक विश्व प्रसिद्ध पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद कराया है। इसके अलावा चेखव व टालस्टाय की कहानियाँ व रूसी की आत्मकथा के भी हिन्दी में अनुवाद हुए हैं। वर्तमान समय में अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दी संस्करण अनेक पुस्तक भवनों में आसानी से उपलब्ध हो रहे हैं। इस प्रकार अनेक चर्चित अंग्रेजी पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद की माँग निरन्तर बढ़ रही है।⁽⁶⁾

निष्कर्ष यह है कि बाजारवाद के चलते हमारी संस्कृति और भाषा को नुकसान पहुँचाने की कोशिश की गई, पर वह प्रभावशाली नहीं रही, हमारी जीवन शैली में जहाँ बदलाव आया हम पहले से बेहतर हुए हैं, वहीं हिंदी भी प्रगति के पथ पर अग्रसर हुयी है। हिंदी भाषा, विश्वपटल पर छाई हुयी है। वह पहले से अधिक लोगों द्वारा बोली और समझी जा रही है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी व भूमंडलीकरण और बाजार के युग में हिन्दी भाषा का स्वरूप काफी बदल चुका है। सूचना प्रौद्योगिकी व तकनीकी ज्ञान के विस्फोट के बाद हिन्दी वैश्विक स्तर पर अत्यंत समृद्ध हुई है। इस समय भारत विश्व का सबसे बड़ा बाजार है। इस बाजार में जिसे आना है, उसे हिन्दी तो जाननी ही होगी।⁽⁶⁾

संदर्भ :

- (1) शर्मा, कृष्ण कुमार : मीडिया और मानव अधिकार, पृष्ठ 79.
- (2) इंटरनेट साहित्य, संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन।
- (3) आलोचना (संपादक-नामवर सिंह), जुलाई-अगस्त 2001, संस्कृति और भूमंडलीकरण, नई दिल्ली, पृष्ठ 56.
- (4) भारत का भूमंडलीकरण (संपादक-अभय कुमार दुबे), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 36.
- (5) साहित्य अमृत, सितंबर 2013, आसफ अली रोड दिल्ली, पृष्ठ 83.
- (6) स्वयं का सर्वेक्षण एवं निष्कर्ष।





‘दोहरा अभिशाप’ आत्मकथा में निहित दलित चेतना

प्रस्तुत शोधपत्र कौसल्याजी की आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में निहित दलित चिन्ता और उनकी चेतना की पड़ताल की गई है। ‘दोहरा अभिशाप’ यत्र-तत्र-सर्वत्र दिग्दर्शित होती है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय समाज एक पितृसत्तात्मक, जातिवादी, लिंगभेदी व वर्ण आधारित सामाजिक व्यवस्था से संचालित होता है, जो समस्त विसंगतियों और कुरीतियों का जन्मदाता व मूलाधार है। समाज में जो असमानताएँ हैं, वह इसी की देन है। इसके उन्मूलन के लिए कौसल्याजी ने अपनी आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में लिंग व जाति विभेद रहित भारतीय समाज की स्थापना व कल्पना की मांग की है।

राजेन्द्र कुमार* एवं डॉ. वंदना कुमार**

दलित शब्द के उद्गार से ही मन-मस्तिष्क में गरीब, शोषित, निरीह मानव की तस्वीर प्रतिबिम्बित होती है और यदि दलित महिला की बात करें तो यह प्रतिबिम्ब और भी बदसूरत एवं भयावह प्रतीत होता है। वस्तुतः दलित महिलाओं का जीवन ही संघर्ष का महासागर होता है। स्वतंत्रता के सात दशक पूर्ण होने के बाद भी आज दलित महिलाएँ, तिहरा दंश झेलने को मजबूर हैं। दलित महिलाओं के इसी दंश को सामाजिक पटल पर लाने का श्रेय प्रसिद्ध लेखिका एवं सामाजिक कार्यकर्ता श्रीमती कौसल्या बैसन्त्री जी को प्राप्त है। वे महाराष्ट्र की पहली दलित महिला स्नातक थीं। उस समय राष्ट्र विलायती गुलामी के जंजीरों में जकड़ा हुआ था। भारत रत्न डॉ. भीमराव अम्बेडकर जी के साथ दलित स्टूडेंट यूनियन के आंदोलन एवं उत्थान में उनकी महत्वपूर्ण भागीदारी रही। शादी के बाद भी वे सामाजिक कार्यों में सक्रिय रहीं। उन्होंने भारतीय महिला जागृति परिषद् का गठन किया। इसके तहत वे दलित महिलाओं और दलित बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य पर काम करती थीं।

अपने जीवन संघर्ष पर आधारित आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ लिखने के कारण उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर पहचान और प्रसिद्धि मिली। आत्मकथा के माध्यम से अपने संघर्षों को अभिव्यक्त करने वाली वे पहली दलित महिला रहीं, जिन्होंने दलित महिलाओं के प्रतिनिधि के रूप में अपने पक्ष को समाज के सम्मुख रखने का साहस किया। उनके लेखन में दलित महिलाओं के उत्पीड़न और संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है, जो समाज के पुरुषवादी मानसिकता पर गहरा प्रहार करती है। इस प्रकार उन्होंने अपनी आत्मकथा के माध्यम से दलित महिला मुक्ति के संघर्ष को मजबूत और विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके लेख से दलित महिला रचनाकारों को प्रेरणा व बल मिला है, जिससे

महिला लेखन, मुक्ति एवं संघर्ष को नया आयाम मिला।

‘दोहरा अभिशाप’ से यूरेनियम सदृश एक ‘प्रकाश-पुंज’ प्रस्फुटित होती है, जिसे साहित्यिक भाषा में ‘दलित-चेतना’ के नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अनुशीलन से ‘दलित-चेतना’ के विविध आयामों के दिग्दर्शन होते हैं, जो दलित महिलाओं में अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा का संचार करते हैं। ‘दोहरा अभिशाप’ में निहित ‘दलित-चेतना’ के विश्लेषण से पूर्व ‘दलित-चेतना’ के बारे में जानना समीचीन होगा। ‘दलित-चेतना’ से तात्पर्य समाज में महामारी के रूप में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था के आड़ (एवज) में किए जाने वाले प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोहन, दलन और शोषण के प्रतिरोध और प्रतिकार की चेतना से है। ‘प्रतिरोध’ से आशय उस व्यवस्था का विरोध करने से है, जो मनुष्य को उनके निकृष्ट जाति में जन्म लेने के कारण उन्हें उनके सर्वांगीण विकास के लिए समान अवसर सुलभ नहीं होने देता। ‘प्रतिकार’ से आशय जातिमूलक सामाजिक अपमान और उत्पीड़न को अपनी नियति मानने से इंकार करना है। इस प्रकार ‘दलित-चेतना’ समाज के जातिवादी कसैले व्यवहार से उपजी जागृति है, जिसके अन्तर्गत ईश्वरीय सत्ता व उनसे जुड़ी हुई धार्मिक मान्यताएँ जैसे-आत्मा, पुनर्जन्म, भाग्य, मोक्ष आदि की अवधारणा को अस्वीकार किया जाता है और वर्ण आधारित सामाजिक व्यवस्था, मूर्ति-पूजा, लिंगगत असमानता का विरोध किया जाता है तथा समाज में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना स्थापित करने का पैरोकार किया जाता है।

‘दलित-चेतना’ को समझने के लिए इसके उद्भव और विकास के इतिहास में झाँकना अत्यावश्यक है। पुरातनकाल से भारत एक हिन्दू-धर्मानुयायी बहुल राष्ट्र रहा है। ईश्वर पर आस्था, मूर्ति-पूजा, वर्ण आधारित सामाजिक कार्य-वितरण आदि हिन्दू-

*शोधार्थी (हिन्दी), साहित्य एवं भाषा अध्ययनशाला, पं.रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़)

**शोध-निर्देशक एवं सहायक प्राध्यापक (हिन्दी विभाग), शासकीय नागार्जुन स्नातकोत्तर विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़)

धर्म के प्रमुख गुणधर्म हैं। किसी धर्म पर गहरी आस्था धर्मांधता, अंधविश्वास, धार्मिक कट्टरता, पाखण्ड और कर्मकाण्ड को जन्म देता है। आदिपुरुष मनु ने अपनी कृति 'मनुस्मृति' में वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू-धर्म का आधार स्तंभ माना और पूरे समाज को चार वर्गों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र में विभाजित कर उनके कार्यों का वितरण किया, जिसमें सबसे निकृष्ट माने जाने वाले कार्य साफ-सफाई शुद्र के खाते में आया। इसमें उन्होंने समाज के सुचारू रूप से संचालन के लिए 'जो जिस वर्ण में जन्म लेगा, वह उस वर्ण को वितरित कार्य को संपादित करेगा' अर्थात् 'जन्म आधारित कर्म' नियम का प्रतिपादन किया। मनु जी के इस नियम से शुद्र वर्ण सर्वाधिक प्रभावित और प्रताड़ित हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों ने मिलकर शुद्रों का अत्यधिक दोहन, दलन और शोषण किया। इससे उनके बीच वैमनस्य का भाव जागृत हुआ। कालान्तर में यह खाई बढ़ती गई और सम्पूर्ण समाज दो भागों-सवर्ण और दलित में बँट गया। इस खाई को पाटने और दलितों में उनके साथ हो रहे दोहन, दलन और शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने, उनमें जागृति और चेतना का संचार करने के लिए कई महापुरुषों को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी तथा वर्ण-व्यवस्था के विरोध में कई धर्मों का उद्भव हुआ। प्राचीन भारतीय इतिहास पर निगाह डालें तो महात्मा गौतम बुद्ध 'दलित-चेतना' के प्रथम सामाजिक प्रणेता के रूप में सामने आते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म में निहित वर्ण-व्यवस्था से उपजी सामाजिक अराजकता से समाज को उबारने के लिए एक वर्ण-विहिन, जाति-विहिन धर्म की स्थापना की, जिसे 'बौद्ध-धर्म' के नाम से जाना जाता है। तदोपरांत नव जागरण काल में महात्मा ज्योतिबा फुले (1827-1890) ने महाराष्ट्र में 'दलित मुक्ति आंदोलन' के माध्यम से ब्राह्मणवाद और जातिप्रथा के खिलाफ विद्रोह कर दलितों को अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए उठ खड़े होने के लिए प्रेरित किया और 'दलित-चेतना' को एक नए कलेवर में उकेरा। इसी तारतम्य में भारत रत्न डॉ. भीमराव अम्बेडकर (14.04.1891-06.12.1956) ने 'दलित आंदोलन' को सबसे बुलंद आवाज़ दी और यहीं से 'दलित-चेतना' की निर्मिति हुई। चूँकि वे स्वयं महाराष्ट्र के दलितों में दलित कहे जाने वाले महार जाति का प्रतिनिधित्व करते थे। उनके वक्तव्य स्वानुभूति प्रेरित होने के कारण अंतरात्मा को तड़ित और झंकृत करती थी। यही कारण है कि वे आगे बढ़ते गए और कारवां बनता गया। इन्हीं के बदौलत आज 'दलित आंदोलन' इस मुकाम पर पहुँच सका है। इस 'दलित आंदोलन' में डॉ. अम्बेडकर के साथ कदमताल करने वाली कौसल्या जी की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में 'दलित-चेतना' के स्वर पग-पग में दृष्टिगोचर होते हैं।

कौसल्या जी ने अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में हिंदू धर्म के देवी-देवताओं के पूजन की भर्त्सना करते हुए अपने-अपने घरों से बहिष्कार करने की अपील विभिन्न तर्कों-वितर्कों के माध्यम से की हैं, क्योंकि दलितों को जिसके दर्शन, पूजा-पाठ करने की अनुमति नहीं उसे दलितों के घर में रखने का कोई औचित्य नहीं है। देवी-देवता, पूजा-पाठ ऐसे कारक रहे हैं, जिसके कारण सवर्ण समाज ने दलितों को सर्वाधिक अपमानित किया है और अस्पृश्य, शुद्र, क्षुद्र, दलित आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है।

इस तर्क-वितर्क में कौसल्या जी सबसे पहले अपने भाई को ही कटघरे में खड़ा करते हुए कहती हैं, "भाई भी बहुत पिछड़े विचार रखता है। देवधर्म पर बहुत विश्वास! गणपति उसका मनपसंद देवता है। वह अनन्य भक्त है इस देवता का।"⁽¹⁾ वे आगे लिखती हैं, "आश्चर्य की ही बात है कि माँ को जब समझ आने लगी कि भगवान वगैरह की सब बातें मनगढ़ंत हैं, तब उन्होंने पूजा-पाठ छोड़ दिया। लेकिन भाई भगवान से चिपका है। भाभी ने तो भगवानों की फौज खड़ी कर रखी है घर में। मैंने उनसे पूछा कि हमारे घर में तो यह सब नहीं था। तुम्हारे माँ-बाप भी पूजा-पाठ नहीं करते थे। फिर तुम यह सब क्यों करती हो? कहने लगीं, "ब्राह्मणों के घर 'देव्हारा' होता है, उनको दिखाने के लिए हमने भी 'देव्हारा' बनाया कि हम भी श्रेष्ठ हैं।" मुझे आश्चर्य हुआ कि क्या पूजा-पाठ करने से आदमी श्रेष्ठ होता है। मुझे उसके अज्ञान पर दया आई। ब्राह्मणों से टक्कर लेने के लिए पढ़ाई-लिखाई होनी चाहिए, ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जैसे बाबा साहब अम्बेडकर ने हासिल किया, तभी वे उनसे टक्कर लेते रहे।"⁽²⁾ कौसल्या जी जब भोपाल में रहती थीं, तो उनके दोनों ओर ब्राह्मण परिवार रहते थे। वे लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे। उनके घरों में आये दिन पूजा-पाठ होती रहती थी। एक दिन उनके घर साधारण पानी का साँप घूस गया तो उसे मार कर विधिपूर्वक दाह-संस्कार किया। इस प्रकार उनकी धर्मांधता देख कर उन पर हँसी आने लगी। एक बार जब वे कहीं बाहर जा रहे थे, तो दरवाजे का ताला लगाकर भगवानों की फोटो की फौज लाईन से लगा कर रख दिया और कौसल्या जी से घर का खयाल रखने को कहा। कौसल्या जी हँसते हुए बोली-"आपने दरवाजे पर भगवानों का पहरा बैठा दिया है, भगवानों की पूरी पलटन आपके घर की रक्षा नहीं करेगी? वे हँस दिए। अब इस सदी में भी लोग ऐसी बातें सोच सकते हैं।"⁽³⁾

कौसल्या जी को सुशिक्षित होने के बावजूद अनेक जगहों पर जाति-पाँति, छुआछूत के नाम पर उपेक्षाओं एवं उलाहनों का सामना करना पड़ा, जिसका उन्होंने घोर विरोध किया। 1956 में कौसल्या जी के पति श्री देवेन्द्र कुमार जी का तबादला दिल्ली से भोपाल में पंचवर्षीय योजना के प्रचार-प्रसार के लिए हुआ था। यहाँ पर उन्हें तात्याटोपे नगर (दक्षिण) में तीन कमरे वाला क्वार्टर मिला। बदकिस्मती से उनके क्वार्टर के दोनों ओर ब्राह्मण परिवार रहते थे। उस समय पूजा के दौरान हल्दी-कुंकुम लेने-देने प्रचलन था। एक दिन पड़ोसी ब्राह्मण के घर पूजा रखी गयी। पड़ोसी ब्राह्मण ने पहले अन्य सभी पड़ोसियों को सुबह हल्दी-कुंकुम लेने के लिए आमंत्रित किया। अंत में शाम को कौसल्या जी को भी आमंत्रित किया। कौसल्या जी को यह अपमान सहन नहीं हुआ। वे उनके मुँह पर बोलीं, "मुझे अपने आत्मसम्मान को ठेस नहीं पहुँचाना है। आप ब्राह्मणों को जब अपना स्वार्थ रहता है तब जाति-पाँति की याद नहीं रहती।"⁽⁴⁾ वे आगे कहती हैं कि भोपाल में उस समय बिसी (चिटफंड) खेला जाता था, उसमें पड़ोस की महिलाएँ कौसल्या जी को भी बिसी में शामिल करना चाहती थीं, किन्तु जब उसे उनकी जाति के बारे में पता चला तो उन्हें बिसी से निकालने के लिए कई तरकीबों की गईं। एक दिन नागपुर से भोपाल आई तो पड़ोसी मराठा औरत ने कौसल्या जी से कहा कि आपने अपनी जाति छुपाई है। इस पर कौसल्या जी को बहुत

गुस्सा आया वे बोलीं—“मुझे मेरी जाति के बारे में पूछा ही नहीं। पूछतीं तो मैं अवश्य अपनी जाति के बारे में बताती। मैं अपनी जाति को हीन नहीं समझती, न उनको अपने से ऊँचा, वैसे मैं जाति-पाँति नहीं मानती। मेरे एक लड़के की पत्नी आयंगार ब्राम्हण है, मद्रास की, दूसरे की पत्नी बंगाली कायस्थ और तीसरे की मध्यप्रदेश की। मेरी लड़की का विवाह सिख धर्म के लड़के से हुआ। हमारे सगे रिश्तेदारों की भादियाँ राजस्थानी, नेपाली, गोवानीज, उत्तर प्रदेशीय आदि में हुई हैं। मेरा अपना विवाह भी बिहार में हुआ है। जाति तो हमने कब की झटक दी है।”⁽⁶⁾ उन्होंने बिस्वी में जाना छोड़ दिया और नौकरानी के हाथ में पैसा और एक पत्र भेज दिया। उस पत्र में लिखा था—“आपने मुझसे मेरी जाति नहीं पूछी। क्या मैं अपनी जाति का पोस्ट अपनी पीठ पर चिपकाकर रखूँ? आप सभ्य नहीं लगतीं। सभ्य आदमी जाति-पाँति का विचार अपने मन में नहीं रखते और जाति-पाँति मानने वाले लोगों से मैं अपना संपर्क नहीं रखती। मुझे पहले पता होता कि आप जाति-पाँति मानती हैं तो मैं स्वयं आपके चिटफंड में नहीं आती। आपकी जाति के लोगों ने हमारे बाप-दादा और हमारी जाति के लोगों को सदियों से सताया— पीने को पानी नहीं, पढ़ाई नहीं, संपत्ति नहीं, काम करने की मनाही। गाँव के बाहर चिथड़ों में रहने को मजबूर किया और भी अमानुष अत्याचार किए। फिर भी हमने यह सब सहकर अपने पाँव पर खड़े रहकर उन्नति की और आपसे आगे बढ़कर दिखाया है। अब आपसे दबकर नहीं रहेंगे। फिर मैं आपसे क्यों डरूँ !”⁽⁶⁾

यदि कोई दलित व्यक्ति अपने परिश्रम के बल पर शिक्षित होकर सुसंस्कृत बन जाता है, तो भी सवर्ण समाज छुआछुत वाली लत नहीं छोड़ता और उसे सामाजिक रूप से उपेक्षित करने से बाज नहीं आता। कौसल्या जी की आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में इस बात का प्रमाण देखा जा सकता है—“हम दलित समाज के हैं, यह वह जान गया था। बहुत छूतछात मानने वाला था। छोटी जाति वाला साहब है इसलिए न वह हमारे घर का काम करेगा न हमारा छुआ खाना खाएगा, पर डटा रहेगा हमारे घर। अब उसे अपने खाने के लिए पैसे खर्च करने पड़ेंगे और यह बात उसे परेशान कर रही थी। वह हमारा सिर्फ दूध लाने का काम करता था। हमारा लड़का एक वर्ष का था, उसके लिए ग्वाले से दूध लाकर देता था। इस काम के लिए हम उसे चाय के लिए दूध देते थे। देवेन्द्र कुमार उसे बीड़ी-तंबाकू के लिए भी पैसे देता था। वह रास्ते में हमारे दूध में से किसी आदमी को दूध दे देता था जो उसे आलू-प्याज दे देता था और हमारे दूध में पानी डाल देता था। जब उसे खर्च अखरने लगा तो उसने कुछ उपाय सोचा। वह रोज हमसे थोड़ा आटा, थोड़ा चावल, थोड़ी दाल माँगता था। उसके पास बर्तन भी नहीं थे। बर्तन भी माँगता था। उसने अपना चूल्हा अलग बनाया। खाना बनाते वक्त अगर हमारा लड़का उसके चूल्हे के पास जाता, तो वह पास नहीं आने देता था। हमने सोचा, एक-दो दिन माँगेंगे और फिर अपने बर्तन और सामान खरीदेगा, परंतु व रोज-रोज माँगने लगा। मैंने उसे रोज देना बंद किया। उससे कहा कि अपना सामान और बर्तन खरीद लाए। हमसे सामान लेकर हमारे ही बर्तन में खाना बनाते तुम्हें छूत नहीं लगती क्या? तब वह बेशरम की तरह हँसने लगा।”⁽⁷⁾

कौसल्या जी ने अपनी आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ के जरिए लिंग-भेद के मुद्दे को जोर-शोर से उठाया है। कौसल्या जी अपनी माँ की पुत्र प्राप्ति की लालसा एवं कन्या रत्न के तिरस्कार की मनोवृत्ति को भी उद्घाटित करते हुए लिखती हैं कि—“माँ हमेशा बाल धोते वक्त बड़बड़ाती रहती थी—देवा, मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया था कि मेरे नसीब में लड़कियाँ ही लिखी हैं?”⁽⁸⁾ वे आगे कहती हैं कि “ग्यारहवीं संतान लड़की हुई। माँ बहुत उदास हो गई थीं। अब घर में छः लड़कियाँ और एक लड़का था। माँ कहती थीं कि जाओ इसे कूड़े में फेंक जाओ।”⁽⁹⁾ कौसल्या जी लिखती हैं कि “हमें माँ-बाबा प्यार जरूर करते थे, हमें पढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी फिर भी लड़के का महत्त्व उनके लिए ज्यादा था। हमें वे पराया धन समझते थे।”⁽¹⁰⁾ कौसल्या जी के माँ-बाबा ने पुत्र प्राप्ति के लिए लाखों मिन्नतें एवं पूजा पाठ की। अंततः उन्हें छः लड़कियों के बाद पुत्र की प्राप्ति हुई। कौसल्या जी के माता-पिता की आँखों से खुषियाँ छलकने लगी। पुत्र प्राप्ति की खुषी का इजहार करने मुहल्ले में षक्कर बाँटी गई और मिन्नतानुसार घर में पाँच वर्षों तक गणपति की स्थापना की गयी।

निष्कर्षतः ‘दोहरा अभिशाप’ में ‘दलित-चेतना’ यत्र-तत्र-सर्वत्र दिग्दर्शित होती है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि भारतीय समाज एक पितृसत्तात्मक, जातिवादी, लिंगभेदी व वर्ण आधारित सामाजिक व्यवस्था से संचालित होता है, जो समस्त विसंगतियों और कुरीतियों का जन्मदाता व मूलाधार है। समाज में जो असमानताएँ हैं वह इसी की देन हैं। इसके उन्मूलन के लिए कौसल्या जी अपनी आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ में लिंग व जाति विभेद रहित भारतीय समाज की स्थापना की कल्पना व माँग करती हैं।

संदर्भ :

- (1) बैसन्त्री, कौसल्या (2012) : दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. सं. 110.
- (2) वही, पृ. सं. 110-11.
- (3) वही, पृ. सं. 115.
- (4) वही, पृ. सं. 115.
- (5) वही, पृ. सं. 116.
- (6) वही, पृ. सं. 116.
- (7) वही, पृ. सं. 102-3.
- (8) वही, पृ. सं. 11.
- (9) वही, पृ. सं. 51.
- (10) वही, पृ. सं. 51.





प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों का शिल्पगत वैशिष्ट्य

प्रस्तुत शोधपत्र, प्रेमचन्द पूर्व के उपन्यासों के शिल्पगत वैशिष्ट्य के अध्ययन से सम्बंधित है। हिन्दी उपन्यासों के उद्भव से पूर्व शिल्प की दृष्टि से गद्य साहित्य में, नाटकीयता, अतिशय काल्पनिकता, चमत्कार प्रियता तथा घटना वैचित्र्य की प्रधानता थी। उनका उद्देश्य केवल चमत्कार सृष्टि ही था। पात्रों के चरित्र, चिंता, कथा-संगठन, यथार्थवादिता आदि को महत्व नहीं दिया जाता था, किन्तु भारतेन्दु युग में आधुनिक उपन्यासों के उद्भव के साथ ऐसे दोष न्यून होते जाते हैं। प्रतापनारायण टण्डन ने लिखा है कि, 'इस युग के उपन्यास साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कथा-शिल्प की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में कुछ ऐसे तत्व मिलते हैं, जो इस युग की विशिष्टता कहे जा सकते हैं। वस्तु: यह आश्चर्य की ही बात है कि शिल्प के रूपों की दृष्टि से आलोच्य युग का उपन्यास साहित्य अपने पूर्व के कथा साहित्य से और अपने परवर्ती कथा साहित्य से पर्याप्त वैभिन्न रखता है।

डॉ. धर्मेन्द्र कुमार शुक्ल

शिल्प और शैली के द्वारा ही उपन्यासकार उपन्यास को प्रभावी रूप से प्रस्तुत करता है। शिल्पगत विशिष्टता ही कथा को मात्र घटनात्मकता से अलग कर से एक सृजनात्मक अनुभव में परिणत करती है। उपन्यासकार जिस ढंग से अपने विचार और भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। उसी को उसकी शिल्पगत विशेषताएँ कहते हैं। आधुनिक उपन्यासों की सफलता उसके शिल्प पर ही निर्भर करती है। जिसमें उपन्यासकार साधारणता में असाधारणत्व समाप्त कर देता है। आधुनिक युग के उपन्यास साहित्य के समृद्ध और उत्तम होने का कारण उसका शिल्पगत विकास भी है। यह शिल्प उपन्यास की शैली में, उपन्यास की भाषा में, उपन्यास के रूप में, किसी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है।

उपन्यास का विवेचन करने पर दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, उपन्यास के सभी अंगों में नवीनता और न महीयता है तथा उनके गठन में उपन्यासकार जिस विलक्षण कला का उपयोग करता है। वह वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने की कला है। इस कला का चमत्कार विशेषकर कथा विन्यास और चरित्र चित्रण में दिखाई पड़ता है। उपन्यासकार कथा और चरित्र के इस स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत करता है कि वे कल्पित होकर भी यथार्थ प्रतीत होते हैं। कथा को विश्वास योग्य तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए विभिन्न तत्वों का सहज, सफल समन्वय वांछनीय है।

हिन्दी उपन्यासों के उद्भव से पूर्व शिल्प की दृष्टि से गद्य साहित्य में, नाटकीयता, अतिशय काल्पनिकता, चमत्कार प्रियता तथा घटना वैचित्र्य की प्रधानता थी। उनका उद्देश्य केवल चमत्कार सृष्टि ही था। पात्रों के चरित्र, चिंता, कथा संगठन, यथार्थवादिता आदि को कोई महत्व नहीं दिया जाता था। किन्तु भारतेन्दु युग में आधुनिक उपन्यासों के उद्भव के साथ ऐसे दोष न्यून होते जाते हैं। जैसा कि डॉ० प्रताप नारायण टण्डन लिखते हैं,

“इस युग के उपन्यास साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कथा शिल्प की दृष्टि से इस युग के उपन्यासों में कुछ ऐसे तत्व मिलते हैं जो इस युग की विशिष्टता कहे जा सकते हैं। वस्तुतः यह आश्चर्य की ही बात है कि शिल्प के रूपों की दृष्टि से आलोच्य युग का उपन्यास साहित्य अपने पूर्व के कथा साहित्य से और अपने परवर्ती कथा साहित्य से पर्याप्त वैभिन्न रखता है। सामान्य रूप से इसके कारणों का यदि निदर्शन किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग के कथा साहित्य में न तो उतनी कल्पनापरकता ही दिखाई पड़ती है। जितनी पूर्ववर्ती कथा साहित्य में और न उतनी यथार्थनुकारिता ही, जितनी परवर्ती कथा साहित्य में मिलता है।”⁽¹⁾

भारतेन्दु युग में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मीऐयारी तथा अपराध उपन्यासों की जो चार धाराएँ विकसित हुई उसमें यथार्थवादी शिल्प पर सबसे ज्यादा जोर सामाजिक उपन्यासों में ही थी। कथाकारों ने किसी राजा, काल्पनिक धीरोदात्त, नायक-नायिका या सामंतों की कहानी ने कहकर साधारण मध्यवर्ती वर्ग की कहानी कही। राजप्रसाद से सामान्य गृहस्थ जीवन तक कहानी की यह यात्रा अभूतपूर्व कही जा सकती है। उपन्यास के जन्म के साथ ही उसके दो विराधी उपयोग शुरू हुए। एक ओर नग्न यथार्थ का शिथिल और आकर्षण चित्रण है। तो दूसरी ओर उसमें लिप्त न होने के लिए पूरी तौर पर सावधान किया जा रहा है। एक पक्ष का उदाहरण किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास प्रस्तुत करते हैं। तो दूसरे पक्ष की कथा कृतियाँ हैं। 'परीक्षा गुरु' और नूतन ब्रह्मचारी (बालकृष्ण भट्ट)। उपन्यास के काव्य रूप में सामाजिक यथार्थ के अंकन का संतुलन आगे चलकर प्रेमचन्द में बनता है, जहाँ से उपन्यास का वास्तविक कला रूप आरंभ होता है।”⁽²⁾

हिन्दी उपन्यासों को इस शिल्प के पूर्ण विकास के लिए अभी लम्बी यात्रा करनी शेष थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में उपन्यास के उद्भव के

एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग), आचार्य नरेन्द्र देव किसान पी.जी.कॉलेज, बभनान-गोण्डा (उत्तरप्रदेश)

लिए सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों अनुकूल थी। पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप कथा का एक रूप प्राप्त हो चुका था। पूर्वलिखित कथा साहित्य ने उसकी कई समस्याएँ हल कर दी। गद्य विकास की उस अवस्था तक पहुँच गया था जब वह कथन और वर्णन कर सकता था तथा नये शिल्प का संधान लेखक इस ओर सक्रिय हों जो भारतेन्दु युग के लेखकों ने कुशलतापूर्वक संपन्न किया।

हिन्दी के पहले मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' को ही लें तो वह शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त नवीनता लिए हुए है। इसके पूर्व हिन्दी कथा साहित्य प्रायः इस प्रकार शुरु होता था— 'एक राजा था या एक सेठ था'। परीक्षा गुरु ने इस लीक को तोड़ा और परीक्षा गुरु में प्रायः वह सभी विशेषताएँ हैं जो आधुनिक उपन्यास में पाई जाती है। लाला श्रीनिवास दास को यह चेतना थी कि "वे नये प्रकार की कथा—सृष्टि कर रहे हैं तथा यह अपनी भाषा में नये चाल की पुस्तक होगी।"

उपन्यास की कथा में पात्रों की अहम भूमिका होती है। लाला श्रीनिवास दास ने लगभग एक दर्जन पात्रों की सृष्टि की है जो उपन्यास की कथा का निर्माण करते हैं। उपन्यास के दो मुख्य पात्र लाला मदनमोहन तथा लाला ब्रजकिशोर दो प्रकार के वर्ग चरित्रों के उदाहरण हैं। इनमें लाला ब्रजकिशोर का चित्र लेखकीय आदर्शों का उदाहरण ही है। मदन मोहन का पिता पुराने किस्म के व्यापारी का और उसकी पत्नी पतिव्रता स्त्री का उदाहरण है। इन पात्रों में मानवीय संवेगों की हलचल बहुत कम है। 'परीक्षा गुरु' में कई ऐसे गौण पात्र भी हैं। जो उपन्यास में विश्वसनीय रूप से समाकलीन समाज का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं। मदन मोहन के दरबार में हाजिरी देने वाले और उसे उल्टा—सीधा समझाने वाले पात्रों में बैजनाथ मास्टर, शिम्बुदयाल, मुंशी चुन्नीलाल, मुंशी हीरालाल, पुरुषोत्तम दास आदि पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि तथा सजीव पात्र हैं। ब्राइट और रसेल तत्कालीन अंग्रेज व्यापारियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसमें लेखक का यथार्थवादी आग्रह स्पष्ट है। वह पात्रों के माध्यम से कथा का संपूर्ण ढांचा निर्मित करता है तथा अपने विचारों की अभिव्यक्ति करता है।

राधा कृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' (1881) हिन्दी का पहला संपूर्ण उपन्यास है, जिसमें विकसित औपन्यासिक शिल्प के उदाहरण मिलते हैं। नाटकों पद्धति पर प्रसंगों के निर्माण तथा कथाक्रम के बदलाव की तकनीक को राधाकृष्णदास ने अच्छा उपयोग किया है। इसमें दृश्य वर्णन और पात्र परिचय के बाद कथोपकथन के माध्यम से कथा को अग्रसर कराने की प्रविधि अपनायी गयी है। जो कथाकार द्वारा नाटक के शिल्प से ली गई है। राधा कृष्णदास 'निस्सहाय हिन्दू' से पहले 'दुखिनी बाला' नामक नाटक की रचना कर चुके थे तथा उन्हें नाटक रचना का गुर प्राप्त हो चुका था।

सन् 1885 ई० में ठाकुर जगमोहन सिंह ने 'श्यामा स्वप्न' नामक उपन्यास की रचना की जो 1885 ई० में प्रकाशित हुआ। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर इसे हिन्दी में "गद्य प्रधान चार खण्डों में कल्पना" तथा अंग्रेजी में 'ऐन ओरिजिनल नॉवेल इन हिन्दी प्रोज' (हिन्दी गद्य में एक मौलिक उपन्यास) की संज्ञा दी। श्यामा स्वप्न का विशेष महत्त्व इसके शिल्प को लेकर है। श्यामा स्वप्न 'परीक्षा गुरु' आदि दूसरे उपन्यासों की तरह अंग्रेजी ढंग का उपन्यास नहीं है। जगमोहन सिंह ने राधा कृष्णदास और लाला श्रीनिवास दास की तरह उपन्यास का, यथार्थवादी शिल्प स्वीकार नहीं किया। 'श्यामा

स्वप्न' का कथा शिल्प प्राचीन संस्कृत कथा साहित्य को परंपरा में है।

"श्यामा स्वप्न" का कथा नायक रात्रि के चार पहरो में चार स्वप्न देखता है, जो मिलकर नायिका श्यामा तथा नायक श्याम सुन्दर की प्रेमकथा कहते हैं। स्वप्न को अनेक असंगत बातों के बीच से कथानायक और नायिका की प्रेमकथा इस प्रकार उभर कर आती है जो प्रेमाख्यानों के अधिक निकट है। इसमें प्राचीन प्रेमाख्यानों की तरह उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति के अलंकृत वर्णन, नायिका का नख—शिख सौन्दर्य वर्णन तथा प्रेमी—प्रेमिका के आलिंगन—चुम्बन और उनके विरह मिलन के काव्यात्मक वर्णनों की प्रधानता है। प्रकृति वर्णन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

"देखता क्या करूँ कि मैं एक अपूर्व मनोहर भूमि पर विचरता हूँ, आमने—सामने पर्वत उत्तर भाग में एक बड़ी भारी नदी। कमल फूले हैं। कोकिनद की पाँती शोक को हटाती है। कुमुद भी एक ओर मुदयुक्त होकर निरख रहे हैं। इधर चातक भी पी—पी रट रट कर अपने पुराने पातक का प्रायश्चित्त करता है। उधर काली कोइस भी अमराइयों में पंचम सुर से गा रही है। आम को मंजरी सभी को सकाम करती है। वक्र और अध खुले पलास अपने पलासों के गर्व में टेढ़े हो रहे हैं..... पर्वतों की अनुदय शोभा कही नहीं जाती। सरिता उसी की नवबधू सी हो उसकी गोद से मिकल कर और भी प्रमोद को बढ़ाती है। पर्वत की कन्दरा सिंह के नाद से प्रतिध्वनित हो रही है। उधर उस नाद को सुनकर गवय और गज भी भीत होकर पलीत के भाति चित्रकार कर भागते हैं— हरिण अपनी व्यारी हरिणी के साथ—(हा हरिणयानि!) कूदते जाते हैं।"⁽⁶⁾

'श्यामा स्वप्न' में कथाकार ने आलंकारिक वर्णनों द्वारा आकर्षक गद्य लिखा है। इस वर्णन में कथाकार ने प्रकृति निरीक्षण और छोटे—छोटे वाक्यों का प्रयोग कुशलता से किया है। प्रकृति औपन्यासिक परिवेश का अंग न होकर स्वयं में विषय बन गयी है। उपन्यास की नायिका का सौन्दर्य वर्णन काव्य रूढ़ि के रूप में लगभग छह पृष्ठों में किया गया है। इस कथा की घटनाएँ एवं कार्य व्यापार केवल सूचना के रूप में हैं। लेखक का प्रमुख उद्देश्य प्रकृति और नारी सौन्दर्य का काव्य परंपरा सम्मत वर्णन तथा शृंगार रस का चित्रण है।

"कथाकार ने श्यामा स्वप्न को एक कल्पना कहा है। यह संज्ञा इसलिए सार्थक है कि 'देवरानी जेठानी की कहानी' से लेकर 'नूतन ब्रह्मचारी' तक उपन्यास में यथार्थ को लेकर जो आग्रह दिखाई पड़ता है उसका 'श्यामा स्वप्न' में एकदम अभाव है। इस कथा में जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है, वे वास्तविक जीवन की नहीं स्वप्न की घटनाएँ हैं। कथा के पास स्वप्न के हवाई व्यक्ति हैं, जिनके जीवन में रंगीनी और भोग विलम्ब को प्रधानता है। ये पात्र मध्यकालीन प्रेमाख्यानों की छाया मूर्तियाँ हैं, जिनका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। श्यामा स्वप्न में शिल्पगत नवीनता यह है कि इसमें कहानी कथानायक के स्वप्न के रूप में प्रस्तुत की गयी है। जो आपस में फिल्म की तरह जुड़े हैं और एक मुकम्मल प्रेमकथा का निर्माण करते हैं। कथाकार ने इस स्वप्न शिल्प की विसंगतियों पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया है।

कोई व्यक्ति रात भर स्वप्न देखता रहे, जगने पर उसे स्वप्न के सारे व्योरे ही नहीं, स्वप्न के पात्रों द्वारा लिखित पत्रों के एक—एक शब्द और उनके द्वारा संवाद में उद्घृत कविताएँ तक याद रहे, यह संभव नहीं है। स्वप्न प्रायः मनोबिम्बों के रूप में होते हैं, जिन

सम्बद्धता नहीं होती। ये मानसिक बिम्ब स्वप्न में अवचेतन और अचेतन मन की अभिव्यक्ति होते हैं। कथानायक के प्रेम की अभिव्यक्ति यदि स्वप्न के असम्बद्ध बिम्बों के रूप में हुई होती तो 'श्यामा स्वप्न' अपने समय का एक क्रान्तिकारी उपन्यास होता। पर ऐसा नहीं है। फिर भी 'श्यामा स्वप्न' की शिल्पगत नवीनता को, समकालीन कथा लेखकों द्वारा किए जा रहे प्रयोगों में 'विशिष्ट' तो माना ही जा सकता है।⁽⁴⁾

किशोरी लाल गोस्वामी ने अपने उपन्यास के शिल्प के लिए संस्कृत और बांग्ला के कथा साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की। नायक-नायिका के प्रेम, विरह, ओर मिलन का वर्णन उनके उपन्यासों में मिलता है। जो मध्यकालीन नरव शिख वर्णनों की पूरी नकल है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में संस्कृत और प्राचीन हिन्दी काव्य की विरह वर्णन की परंपरा में ही है। प्राचीन काव्यों की तरह गोस्वामी जी की नायिकाएँ भी प्रिय के वियोग में नाना प्रकार से विलाप करती हैं, प्रिय का पत्र कलेजे से लगाती हैं, तथा विरहालाप करती हैं जो प्राचीन संस्कृत साहित्य के अनुकरण में ही है।

डॉ० लक्ष्मण सिंह विष्ट के अनुसार—“गोस्वामी जी के उपन्यासों में बंगला साहित्य तथा उर्दू शायरी के प्रभाव के कई कारण थे। हिन्दी में लिखने से पूर्व वे उर्दू में भी लिखा करते थे, इस कारण उर्दू का प्रभाव तो स्वाभाविक था। बंगला प्रभाव का कारण काशी और कलकत्ते का आपसी संपर्क है। उस समय से ही उत्तर प्रदेश में बनारस, इलाहाबाद तथा वृन्दावन बंगालियों के प्रमुख गढ़ रहे हैं। इन स्थानों पर बंगाली लोग बड़ी संख्या में आकर बसे। गोस्वामी जी के पात्रों के कथोपकथन में बंगला भावुकता और आत्मीयता कहीं-कहीं झलकती हैं—

“मदन मोहन ने हंसकर कहा — आज अभी से नींद बुलाने लगे। मैंने कहा — क्या करूँ, मेरी नींद तो कभी पूरी ही नहीं होती। मदन मोहन ने कहा— तो फिर मैं आपसे तुम्हें माधव भैया के बदले मुचकुन्द भैया कहकर पुकारूँगा।”⁽⁵⁾

गोस्वामी जी के उपन्यासों से जी परिदृश्य सामने आता है, वह सामान्यतः सामाजिक सुधारों का बहुत उत्साही समर्थक नहीं है। आर्य समाज का कुछ प्रभाव तो उन पर पड़ा, किन्तु वे सनातन धर्म के समर्थक अधिक थे। उनके उपन्यासों पर अश्लीलता, मुस्लिम विरोध तथा अनुचित प्रसंगों के चित्रण द्वारा मजा लूटने के आरोप लगाए गये। परन्तु यह स्थिति शिल्प के स्तर पर ही थी, उद्देश्य के स्तर पर वह अपने युग के अन्यान्य लेखकों की तरह आदर्शवादी विचारों के व्यक्ति थे।

डॉ० गोपाल राय ने गोस्वामी जी के उपन्यासों की समीक्षा करते हुए लिखा है— “गोस्वामी जी के उपन्यासों में घटनाओं की बहुलता है। चरित्र चित्रण इनके नीचे दब गया है। ये घटनाएँ प्रायः बेसिक पैर की ओर तर्कहीन हैं जिन्हें अपरिपक्व रुचि के पाठक ही झेल सकते हैं। ‘तरुण तपस्विनी’, ‘चपला’, ‘माधवी माधव’ आदि उपन्यास इस प्रकार की घटनाओं से भरे हुए हैं। ‘चपला’ में रोमांचकारी डकैतियों, तिलस्म और गड़े खजाने आदि का भी सविस्तार वर्णन किया गया है। ऐचारी और तिलस्म विषयक पर ‘चन्द्रकान्ता सन्तति’ का ‘स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।”⁽⁶⁾

शिल्प की वृष्टि से गोस्वामी जी के उपन्यास किस्सागोई और नाटकीयत के मेल पर अधारित हैं, उपन्यासों में आकस्मिक घटनाओं की प्रधानता है। लेखक बीच-बीच में स्वयं प्रकट होकर पाठकों को संबोधित करता रहता है। जैसाकि बालकृष्ण भट्ट इत्यादि लेखक

भी करते रहे हैं। यह उपदेश देने की परंपरागत प्रविधि थी जो हिन्दी उपन्यासों में उस युग में बहुधा प्रयुक्त की गयी। वह पाठकों की उत्सुकता का जागृत करने के लिए रहस्य की सृष्टि करते हैं तथा उसके चरम तक, पहुँचा कर ही उसे पाठकों को प्रकट करते हैं। इस विधि द्वारा उपन्यास की रोचकता तथा पठनीयता में वृद्धि होती है। इसके लिए उन्होंने नाटकीय प्रविधि का कुशल प्रयोग किया है।

बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास ‘सौअजान और एक सुजान’ तथा ‘नूतन ब्रह्मचारी’ भी रहस्यपूर्ण स्थितियों के निर्माण, रहस्योद्घाटन, कालक्रम के परिवर्तन आदि प्रविधियों से युक्त हैं। बाल कृष्ण भट्ट भी किस्सागोई तथा वर्णनात्मकता के शिल्प का प्रयोग करते हैं। उनके उपन्यासों में परिवेश चित्रण जीवंत होकर उभरता है—

“बरसात का अंत है। दुर्ब्यसनी के धन समान मेघ आकाश में सिमिट-सिमिट लोप होने लगे हैं। शरत् का आरंभ हो गया। शीत अपना सामान धीरे-धीरे इकट्ठा करने लगी। कुँआर का महीना है। उजाली रात है। ग्यारह बजे का समय है। सन्नाटा छाया हुआ है। मानो प्रकृति देवी दिनभर की दौड़ धूप के उपरांत थकी थकाई विश्राम के लिए छुट्टी लिया चाहती है। चन्द्रमा सोलहों क्लाओं के पूर्ण होने में कुछ ऐसा ही नाम मात्र का अंतर रखता हुआ मानो हंस-सा रहा है, जिसकी सब ओर छिटकी हुई चांदनी सम-विषम भू-भाग को एक आकार दरसाती हुई चक्रवर्ती राणा की आज्ञा समान सर्वत्र व्याप रही हैं, मानो विरान रूप नीले आकाश-शमियाने के नीचे सफेद फर्श बिछा दिया गया हो।”⁽⁷⁾

कथा में चरित्रांकन को प्रमुख स्थान दिया गया है, उनके उपन्यास रूप में मूलतः चरित्र प्रधान उपन्यास है। इसमें अनेक पात्रों के चरित्र प्रमुख किए गए हैं, जो विविध प्रकार के प्रारूपों के प्रतिनिधि हैं और अपने समय की वास्तविकता की सही पहचान कराते हैं। ‘सौ अजान और एक सुजान’ तत्कालीन वणिग समाज का जीवन्त चित्रण है। इसके साथ ही अंग्रेजी शासन व्यवस्था की आलोचना, धूर्ती, पाखंडियों, ढोंगी साधुओं, पुजारियों आदि के वास्तविक रूप का पर्दाफाश तथा धार्मिक मठों की पोल खोलना भट्ट जी का उद्देश्य प्रतीत होता है।

संदर्भ :

- (1) टंडन, डॉ० प्रताप नारायण टंडन (1974) : हिन्दी उपन्यास का उद्भव और विकास, कल्पकार प्रकाशन, पृ०सं० 104-105.
- (2) चतुर्वेदी, डॉ० रामस्वरूप (1999) : हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास, लोकभारती, पृ०सं० 89.
- (3) स्वप्न, श्यामा एवं सिंह, जगमोहन : नागरी प्रचारिणी सभा, पृ०सं० 41.
- (4) राय, डॉ० गोपाल राय : हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृ०सं० 62.
- (5) बिष्ट, डॉ० लक्ष्मण सिंह : प्रेमचन्द पूर्व के कथाकार और उनका युग, पृ०सं० 136-137.
- (6) राय, डॉ० गोपाल राय : हिन्दी, उपन्यास का इतिहास, पृ०सं० 104.
- (7) भट्ट, बालकृष्ण : सौ अजान और एक सुजान, पृ०सं० 1.





जन कवि मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक-संघर्ष

प्रस्तुत शोधपत्र में जन कवि मुक्तिबोध के काव्य में सामाजिक-संघर्ष का अध्ययन किया गया है। कवि के आत्मसंघर्ष के संदर्भ में नामवर सिंह ने लिखा है कि, “मुक्तिबोध यह मानते हैं कि आत्मपक्ष और परिस्थितिपक्ष एक ही वास्तविकता के दो अंग हैं और इन दोनों में गहरे अंतः सम्बंध हैं।” आत्मसंघर्ष का गहरा सम्बंध बाह्य सामाजिक संघर्ष से है, जाहिर है कि सामाजिक संघर्ष में भाग लेकर ही इस आत्मसंघर्ष को निर्णायक दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है। इस तरह आत्मसंघर्ष की परिणति अन्ततः सामाजिक संघर्ष में होती है।

डॉ. अब्दुरहीम

अन्तर्बाह्य द्वन्द्वमय संघर्षरत कवि गजानन माधव मुक्तिबोध नई कविता में यथार्थ की नई जमीन की तलाश करने वाले जन कवि हैं। ‘तार-सप्तक’ में प्रकाशित उनकी आरम्भिक कविताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने संवेदना की नई राहों की तलाश में नई रचना-प्रक्रिया का भी अन्वेषण किया। अज्ञेय ने भी ‘तार सप्तक’ में मुक्तिबोध को “राहों के अन्वेषी” कहा है।⁽¹⁾ ‘तार सप्तक’ के अन्तर्गत प्रकाशित उनकी कविताओं में अन्तर्द्वन्द्व उभर कर सामने आया है। उनके अन्तर्मन में व्याप्त बेचैनी, छटपटाहट, घोर असन्तोष और परिस्थितियों के थपेड़ों का द्वन्द्व उन्हें उस गुहान्धकार से बाहर निकलने के लिए व्याकुल भी करता है। ‘आत्मा के मित्र मेरे’, ‘दूर तारा’, ‘मृत्यु और कवि’, ‘नूतन अहं’, ‘नाश देवता’, ‘सृजन-क्षण’, ‘व्यक्तित्व और खण्डहर’, ‘एक आत्म वक्तव्य’ आदि कविताओं में मुक्ति हेतु जन-रोष भी दिखाई पड़ता है और विषमता से उत्पन्न संकट का विरोध भी झलकता है। सामाजिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण करते हुए वे कहते हैं :

अधियाली गलियों में घूमता है/तड़के ही रोज/कोई मौत का पठाण/माँगता है जिंदगी जीने का ब्याज/अनजाना कर्ज/माँगता है चुकार में, प्राणों का मांस।⁽²⁾

इसके उत्तर में मुक्तिबोध का विद्रोही स्वर क्रान्तिकारी की भूमिका का निर्वहन करता हुआ दिखाई पड़ता है :

काली-काली गलियों में/फिरती हुई आदमी की शकल/अच्छा है कि अँधेरे में इलाका-बदर/मैं हूँ जवाबी गदर⁽³⁾

उनकी दृष्टि समझोतावादी नहीं रही है, बल्कि यथार्थ से सीधी टकराती हुई किसी छोर तक पहुँचने में सफल रही है। ‘पूँजीवादी समाज के प्रति’ कविता में उन्होंने घृणा के साथ अपना रोष प्रकट करते हुए कहा है :

तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र/तेरे हास में भी रोग-कृमि है उग्र / तेरा नाथ तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र/मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल / होकर एक/अपनी उष्णता से धो चले अविवेक / तू है मरण, तू है रिक्त तू है व्यर्थ/तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ⁽⁴⁾

मुक्तिबोध को बुर्जुआ वर्ग की रेशमी संस्कृति से अत्यन्त चिढ़ है। उसके प्रति घृणा का भाव उन्होंने क्रोध सहित अपनी इन पंक्तियों में व्यक्त किया है :

“छोड़ो हाथ, केवल घृणा और दुर्गन्ध/ तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति अंध/ देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध/ तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध/ तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र।”⁽⁵⁾

दूसरी ओर कवि मुक्तिबोध यह भी देखते हैं कि कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो अपने आंशिक स्वार्थों के कारण षडयन्त्रकारियों और पूँजीपतियों के समक्ष झुकते हैं और समझौता करते हैं। ऐसे लोग अपना अस्तित्व खो चुके हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में ऐसे लोग गले में पट्टा बंधे कुत्ते के समान हैं जो इस युग में कर्ण, कृपाचार्य और साहित्यिक बनकर कौरव के घर में विवश हैं और लाचार हैं। इसी कारण वे अत्याचार और शोषण का शिकार हो रहे हैं :

“इस नगरी में कौरव के घर/वीर द्रोण की थकन भरी है भूरी-भूरी/पीली है सुरत अनचाहों की सेवा में/कुन्ती-पुत्र कर्ण-कृप-सात्यकि की ग्रीवा में/कुत्ते की गर्दन का पट्टा।”⁽⁶⁾

शोषित जन की लाचारी ही उसके रिक्त जीवन की पीड़ा है तथा यही उसके दुखों का पिटारा भी है। मुक्तिबोध की दृष्टि में उसके दुखों का यह क्रम ही सत्य है, शेष सब अवास्तव, अयथार्थ है, मिथ्या है और भ्रम है :

शून्यों में घिरी हुई पीड़ा ही सत्य है/शेष सब
अवास्तव अयथार्थ मिथ्या है, भ्रम है/सत्य केवल एक
है/जो कि दुखों का क्रम है।" (7)

कवि मुक्तिबोध को ऐसी अनुभूति होती है कि जैसे उनके
पैरों के तलवों को कोई आग काटने-सी लगती है, जिसकी पीड़ा
के कारण कवि नाचने-सा लगता है। उसे खड़ा होने में भी कष्ट
हो रहा है। उसे ऐसा लगता है मानो एक साथ लाखों बरों ने उसे
काट खाया है -

अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर/अचानक
सनसनी भौचक/कि पैरों के तलों को/काट खाती कौन-सी
यह आग/जिससे नाच रहा सा हूँ/खड़ा भी हो नहीं
सकता, न चल सकता।

X X X
लाखों बर्-काटों ने अचानक काट खाया है।" (8)

पूँजीवादी व्यवस्था के द्वारा सर्वहारा वर्ग के शोषण के प्रति
मुक्तिबोध ने भारतीय समाज के बुद्धिजीवियों को फटकार लगाते
हुए कहा है :

सब चुप, साहित्यिक चुप, और कवि जन निर्वाक/
चित्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं/रक्तपायी वर्ग से/नाभिनाल
बद्ध ये सब लोग/नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे।" (9)

कवि को शोषणपरस्त व्यवस्था के जाल में फँसे गौरवपूर्ण
और उज्ज्वल चेहरे भी कालिख पुते हुए दिखाई देते हैं, जिनके
चरित्र का कच्चा चिट्ठा खोलने में कवि को कोई हिचकिचाहट
नहीं है। मुक्तिबोध कहते हैं -

"कन्धे से कमर तक कारतूसी बेल्ट है तिरछा/कमर
में चमड़े के कवर में पिस्तौतल/रोष-भरी एकाग्र दृष्टि में
धार है/ कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल/कई और
सेनापति सेनाध्यक्ष चेहरे वे मेरे/जाने-बूझे से लगते/उनके
चित्र समाचार पत्रों में छपे थे/उनके लेख देखे थे। यहाँ
तक कि कविताएँ पढ़ी थी/भई वाह!/उनमें कई प्रकाण्ड
आलोचक, विचारक, जगमगाते कवि-गण/मंत्री भी,
उद्योगपति और विद्वान/यहाँ तक कि शहर का हत्यारा
कुख्यात डोमा जी उस्ताद।" (10)

काव्य के अतिरिक्त मुक्तिबोध ने अपने इस मन्तव्य को
प्रकट करते हुए स्वयं भी कहा है - समाज के विभिन्न वर्गों के
भीतर की खाइयाँ और चौड़ी हो गयी हैं। समाज में शोषकों,
उत्पीड़कों और उनके साथियों का जोर बढ़ गया है।" (11)

मुक्तिबोध ने समय के इतिहास के प्रति इतिहास पर भी
अपना विद्रोही रूप बरकरार रखा और दरिदों के चेहरों को बेनकाब
करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने अपनी कविता 'एक
भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में स्पष्ट कहा है -

खूबसूरत कमरों में कई बार/हमारी आँखों के
सामने/हमारे विद्रोह के बावजूद/बलात्कार किये
गये/नक्षीदार कक्षाओं में/भोले निर्व्याज नयन हिरनी से/मासूम
चेहरे/निर्दास तन-मन/दैत्यों की बाहों के शिकंजों में/इतने
अधिक/इतने अधिक जकड़े गये/कि जकड़े ही जाने
के/सिकुड़ते हुए घरे में तन-मन/दबते पिघलते हुए एक
माप बन गये।" (12)

मुक्तिबोध ने फासिस्ट हुकुमत के क्रूरता भरे चेहरे को बहुत
निकट से देखा है इसलिए वह कहता है -

परन्तु दिन में/बैठती है मिलकर करती हुई
षडयन्त्र/विभिन्न दफतरों-कार्यालयों, केन्द्रों में, घरों
में/हाय-हाय। मैंने उन्हें देख लिया नंगा/इसकी मुझे
और सजा मिलेगी।" (13)

हुकुमत के काले कारनामों पर नज़र रखने वालों को और
उन कारे कारनामों का खुलासा करने वालों को इसका दुष्परिणाम
भी भोगना पड़ता है। मुक्तिबोध ने अपनी कविता अंधेरे में इस ओर
ध्यानाकर्षण करते हुए कहा है :

"इतने में प्रोसेशन में" से कुछ मेरी ओर/आँखें उठी
मेरी ओर-भर/हृदय में मानो कि संगीन नोकें ही घुस पड़ी
बर्बर/सड़क पर उठ खड़ा हो गया कोई शोर/"मारो
गोली, दागो स्साले को एक दम/दुनिया की नज़रों से
हटकर/छिपे तरीके से/हम जा रहे थे कि/आधीरात-
अँधेरे में उसने/देख लिया हमको/व जान गया वह
सब/मार डालो, उसको खत्म करो एकदम।" (14)

अतएव स्पष्ट है कि भारतीय स्वाधीनता के साथ-साथ
मुक्तिबोध के व्यक्तिवाद का कवच भी टूटता है और उनकी
संवदेना अन्तर्मुखता अथवा आत्मग्रस्ता से बाहर निकलकर व्यापक,
समष्टिगत तथा विश्वचेतस होती गयी। उनके लिए वर्ग-विषमता
से उत्पन्न अस्थिर जीवन दर्शन ही सफल जीवन का पर्याय बन
जाता है। उनकी कविता 'कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं' में आम
आदमी के जीवन की वास्तविक सफलता का ही संदेश मिलता है।
छल-छद्म के मार्ग पर चल कर अथवा यह कहें कि भ्रष्टाचार की
चक्करदार सीढ़ियों पर चढ़कर ही धन एकत्र करके जीवन में
सफलता का सर्टिफिकेट प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा सर्टिफिकेट
प्राप्त करना कवि मुक्तिबोध को नापसन्द है। वे कहते हैं -

"कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं/सफल जीवन
विताने में हुए असमर्थ तुम!/तरक्की के गोल-गोल/घुमावदार
चक्करदार/ऊपर बढ़ते हुए जीने पर चढ़ने की/चढ़ते ही
जाने की/उन्नति के बारे में/तुम्हारी ज़हरीली/उपेक्षा के
कारण/ निरर्थक तुम, व्यर्थ तुम!" (15)

कवि मुक्तिबोध कहते हैं कि शोषित-पीड़ित जन के पास
ईमानदारी है, अक्ल है, वह भय रहित है, उदार हृदय वाला है और
विकास की सोच रखने वाला, अपनी मिट्टी से लगाव रखता है -

तुम्हारे पास, हमारे पास/सिर्फ एक चीज है/ईमान
का डंडा है/बुद्धि का बल्लम है/अभय की गेती है/हृदय
की तगारी है-तसला है/नए-नए बनाने के लिए भवन/आत्मा
के/मनुष्य के/हृदय की तगारी में ढोते हैं हमी लोग

X X X

तथा कथित 'सफलता' के/खच्चरों व टट्टुओं के
द्वारा यदि/ निरर्थक व महत्वहीन/करार दिये जाते हों/
तो कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं।" (16)

शोषण और भ्रष्टाचार के माध्यम से धन इकट्ठा करके पूँजी
के ढेर पर बैठे सफलता प्राप्त उच्च वर्ग के भेड़ियों से कवि
मुक्तिबोध कहना चाहते हैं कि उन्हें कोई हमारा यह संदेश पहुँचा
दे कि वे भी श्रम और ईमानदारी की दवा की एक डॉज समझकर

पी लें तो उनके मस्तिष्क के अहं के रोगाणु मर जायेंगे और वे अपनी खूँखार प्रवृत्ति को छोड़कर इन्सानियत के मार्ग पर चल सकेंगे –

जाकर उन्हें कह दे कोई/पहुँचा दे यह जवाब/और अगर फिर भी वे/करते हों हुज्जत तो/कह दो कि हमारी साँस/जिसमें है/आजकल के रक्त-जब्त, तौर-तरीकों की तरफ/जहरीली कडुआहट/ज़रा-सी तुम पी लो तो दवा का एक डोज समझ/तुम्हारे दिमाग के/रोगाणु मर जायेंगे/व शरीर में/मस्तिष्क में, जबर्दस्त संवेदन-उत्तेजन/इतना कुछ हो लेगा/कि अकुलाते हुए ही तुम/अंधेरे की खीमे को त्याग कर/उजाले के सुनहले मैदानों में/भागते आओगे।" (17)

मुक्तिबोध की 'ब्रह्मराक्षस' कविता बुद्धिजीवी वर्ग की विलासिता में लिप्त आत्मग्रस्तता में डूबी हुई नाव के ही समान है, जिसमें वह जीवन की राह से भटककर अपने ही संसाधनों के नीचे दबकर और नपुंसक होकर मर जाता है।

पिस गया वह भीतरी/औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच/ऐसी ट्रेजेडी है नीच!!/बावड़ी में वह स्वयं/पागल प्रतीकों में निरन्तर कह रहा/वह कोठरी में किस तरह/अपना गणित करता रहा/और मर गया।" (18)

कवि मुक्तिबोध उसके अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए ही संघर्ष का आह्वान करता है – मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर शिष्य/होना चाहता जिससे कि/उसका वह अधूरा कार्य/उसकी वेदना का स्रोत/संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक/पहुँचा सकूँ।" (19)

मुक्तिबोध ने अपनी कविता 'दिमागी गुहान्धकार का ओरांग-उटाँग में भी छद्मपूर्ण होकर व्यक्तित्व के रूप में खूँ-खार जानवर ओरांग-उटाँग के प्रखर नाखूनों से किये जाने वाले प्रहार जैसी क्रूरता की अभिव्यक्ति की है। यह कवि की संवेदना का अग्र रूप है जिसे मुक्तिबोध ने अपने इन शब्दों में व्यक्त किया है –

स्वयं की ग्रीवा पर/फेरता हूँ हाथ कि/करता हूँ महसूस/एकाएक गर्दन पर उगी हुई/सघन अयाल और/शब्दों पर उगे हुए बाल तथा/वाक्यों में ओरांग-उटाँग के/बढ़े हुए नाखून।" (20)

मुक्तिबोध ने भ्रष्ट शासकों को जनता के द्वारा सत्ता सौंपने के प्रति भी संवेदित होकर कविता रची है। उनकी 'भूल-गलती' कविता में ईमान और क्रूर शासक के बीच चल रहे वैचारिक युद्ध का भी चित्रण दृश्य-बिम्ब के नाटकीय रूप में किया गया है। यहाँ क्रूर शासक का विरोध एक ईमानदार व्यक्ति के द्वारा किसी एकांकी के किसी दृश्य जैसा ही प्रस्तुत किया गया है।

"पहने हथकड़ी वह एक ऊँचा कद/समूचे जिस्म पर लत्तर/झलकते लाल लम्बे दाग/बहते खून के/वह कैद कर लाया गया ईमान/सुलतानी निगाहों में निगाहें जालता/बेखौफ/नीली बिजलियों को फँकता/खामोश!!/सब खामोश।" (21)

मुक्तिबोध की इस कविता में ईमान एक ऐसा पात्र है, जो सामन्ती व्यवस्था का खुलकर और डटकर विरोध करता है। यहाँ कवि निडर होकर शासक की सत्ता को जड़ से उखाड़ फेंकने का संदेश देना चाहता है और उसके विरुद्ध एक सैन्य बल का संगठन करके पुनः लौटकर आने का आह्वान करता है। ऐसा लगता है कि

जैसे क्रान्ति का मसीहा कोई सुभाष चन्द्र बोस अपना सैन्य दल तैयार कर रहा है और संकल्प के साथ लौटकर अवश्य आयेगा तथा हमारी हार का बदला लेगा। कवि मुक्तिबोध कहते हैं—

लेकिन उधर उस ओर/कोई बुर्ज के उस तरफ जा पहुँचा/अंधेरी घाटियों के गोल टीलों घने पेड़ों में/कहीं पर खो गया/महसूस होता है कि यह बेनाम/बेमालूम दरों के इलाके में (सचाई के सुनहले तेज अक्सों के धुँधलके में) मुहैया कर रहा लश्कर हमारी हार का बदला/चुकाने आयेगा/संकल्प धर्मा चेतना का/रक्तप्लावित स्वर/हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर/प्रकट होकर विकट हो जायेगा।" (22)

कवि मुक्तिबोध ने लोकतंत्र का महत्व स्पष्ट करते हुए किसी शासक को जनता का मसीहा बनकर गुमराह करने जैसे अभिनय पर भी न केवल स्पष्ट बयानी की है, बल्कि उन्होंने विकास की जड़ें जनता की भूमि में ही तलाश की है –

"दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर/दानों को चुगने/ चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट/कोई भी मुरगा/यदि बांग दे उठे जोरदार/बने जाये मसीहा"/वे कह रहे हैं/"मिट्टी के लोंदे में किरगीले कण-कण/गुण हैं जनता के गुणों से ही सम्भव/भावी का उद्भव" (23)

स्पष्ट है कि शोषणमुक्त समाज की परिस्थापना हेतु दृढ़ संकल्प शक्ति का परिचय उनकी कविताओं में मिलता है। कवि के आत्मसंघर्ष के सन्दर्भ में नामवर सिंह भी कहते हैं – "मुक्तिबोध यह मानते हैं कि आत्मपक्ष और परिस्थितिपक्ष एक ही वास्तविकता के दो अंग हैं और इन दोनों में गहरे अन्तः सम्बन्ध हैं।" इस प्रकार आत्मसंघर्ष का गहरा सम्बन्ध बाह्य सामाजिक संघर्ष से है, जाहिर है कि सामाजिक संघर्ष में भाग लेकर ही इस आत्मसंघर्ष को निर्णायक दिशा की ओर उन्मुख किया जा सकता है।इस तरह आत्मसंघर्ष की परिणति अन्ततः सामाजिक संघर्ष में होती है।" (24)

संदर्भ :

- (1) अज्ञेय : तार सप्तक, तृतीय सं०, पृ० 11. (2) एक आत्म वक्तव्य (कविता), तार-सप्तक, तृतीय सं०, पृ० 40. (3) एक आत्म वक्तव्य (कविता), तार-सप्तक, तृतीय सं०, पृ० 43. (4) तार-सप्तक, प्रथम सं०, पृ० 25. (5) तार-सप्तक, प्रथम सं०, पृ० 25. (6) मुक्तिबोध : भूरी-भूरी खाक धूलि, द्वितीय सं०, पृ० 151. (7) मुक्तिबोध रचनावली – 2, पृ० 184. (8) चकमक की चिनगारियाँ, मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ० 233. (9) अँधेरे में – मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ० 351. (10) अँधेरे में – मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ० 330. (11) मुक्तिबोध रचनावली-5, पृ० 190. (12) एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन, मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ० 136. (13) अँधेरे में मुक्तिबोध रचनावली खण्ड-2, पृ० 331. (14) अँधेरे में मुक्तिबोध रचनावली खण्ड-2, पृ० 330. (15) कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं, भूरी-भूरी खाक धूलि, द्वितीय सं०, पृ० 122. (16) कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं, भूरी-भूरी खाक धूलि, द्वितीय सं०, पृ० 125. (17) कहने दो उन्हें जो यह कहते हैं, भूरी-भूरी खाक धूलि, द्वितीय सं०, पृ० 127-128. (18) मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं० पृ० 41. (19) मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं० पृ० 40. (20) मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं० पृ० 44. (21) भूल गलती, चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं०, पृ० 29. (22) भूल गलती, चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं०, पृ० 31. (23) मुक्तिबोध : अँधेरे में, चाँद का मुँह टेढ़ा है, दसवाँ सं० पृ० 280. (24) सिंह, नामवर (2009) : कविता के नये प्रतिमान, आठवीं आवृत्ति, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृ० 237.





हबीब तनवीर के रंगकर्म में अनुस्यूत छत्तीसगढ़ी लोक

प्रस्तुत शोधपत्र में प्रसिद्ध रंगकर्मि हबीब तनवीर के रंगकर्म में छत्तीसगढ़ी लोक का अध्ययन किया गया है। हबीब तनवीर ने अपनी लोक संस्कृति को कभी नहीं छोड़ा। अपने रंगकर्म में उन्होंने छत्तीसगढ़ लोक को पूरी तरह रूपायित किया, चाहे भाषा के स्तर पर हो या लोक गीत, लोक नाट्य, लोक संगीत, लोक कथा के स्तर पर हो। उन्हें अपने नये मुहावरे की तलाश की ठौर यहीं आकर प्राप्त हुई, जिसने उन्हें और उनके साथ ही छत्तीसगढ़ के नाम को बुलंदियों के मकाम तक पहुँचा दिया। ये उसी लोक का कमाल था, जिसके कारण उनके नाटक कभी भी दर्शकों के मोहताज नहीं हुए। आज उनके नहीं रहने पर छत्तीसगढ़ी लोक के आंगन में धूल का गुबार छाया हुआ है, जिसे बुहारना अपनी संस्कृति को बचाने के लिए बेहद जरूरी है। शासन के नीति निर्धारकों को यह समझाया जाना बेहद आवश्यक है कि उनके संरक्षण और पहल के बिना अपनी समृद्ध लोक-संस्कृति वैश्वीकरण के दौर में चाहकर भी बच नहीं सकती, जिसे बचाया जाना आने वाली पीढ़ी के लिए बेहद अनिवार्य है।

डॉ. वंदना कुमार

लोक नाट्य, लोक गीत, लोक संगीत, लोक साहित्य लोक जीवन का आईना होते हैं। लोक साहित्य में स्थानीय लोक जीवन की परंपराओं, उनके रहन-सहन रीति-रिवाजों और क्रिया व्यापारों की स्पष्ट छवि दिखाई देती है। लोक जीवन में जो कुछ भी घटित होता है, अच्छा-बुरा, उतार-चढ़ाव, हानि-लाभ, दुख-सुख, यही सब लोक नाट्य के कथानक बनते हैं। लोक अपने परिवेश में जो देखता है, महसूस करता है, हँसी-खुशी के जो सपने बुनता है, उन दृश्यों, घटनाओं, आशाओं और विश्वासों को लोक रंग में साकार करता है। अभिनय और संवादों के माध्यम से जो मर्म लोकमंच पर रूपायित होता है, वही कहलाता है, 'लोक नाट्य'।

छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य की परंपरा छत्तीसगढ़ के गाँवों में यहाँ के जन-जन में बहुत गहरी रही है। जन रंजन और लोक शिक्षण का सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली स्वरूप लोक नाट्य में समाया हुआ है। लोक नाट्य का मूल आधार रहा है, नाचा। हास्य और व्यंग्य की प्रबल धारा के साथ प्रचुर सांगीतिक वैभव नाचा की विशेषता रही है। नाचा को छत्तीसगढ़ की जनता रात-रात भर उतावली और बावली होकर देखती रही है। छत्तीसगढ़ में जन मनोरंजन के लिए सर्व सुलभ माध्यम रहा है नाचा। इससे बढ़कर यह सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी रहा है। इसकी आडम्बरहीनता मन को मुग्ध किए बिना नहीं रहती। भावमयता तो इसका प्राण ही है। इसका कथानक दर्शकों में आकर्षण का प्रमुख केन्द्र रहा है। इसके कथानक प्रायः सामाजिक हुआ करते हैं। इनसे समाज में प्रचलित मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों का अच्छा दिग्दर्शन प्राप्त होता है। नाचा पूर्ण रूपेण एक जीवन-केन्द्रित लोक-विधा है। जिस प्रामाणिकता से यह सामाजिक जीवन को

प्रस्तुत करता है, उसमें कहीं किसी ठौर बनावट की कोई गुंजाइश नहीं रहती। मनोरंजन एवं शिक्षा का जैसा मणि-कांचन संयोग इसमें मिलता है, वैसा अन्यत्र संभव नहीं है। समाज के उत्थान-पतन को रेखांकित करने वाली यह एक आरसी है। इसके सत्याचरण को चुनौती दे पाना मुश्किल है।

छत्तीसगढ़ी नाचा में बहुतायत से व्यंग्य-विद्रुप और सामाजिक परंपरा की भूख पायी जाती है। जिस तरह से निर्गुण, परंपरा के संत कवि निम्न जातियों में से ही आये थे और उन्होंने अभिजात कहे जाने वाले समाज के आडम्बरों का भंडाफोड़ किया था, ठीक उसी प्रकार नाचा पार्टियों में भी निम्न वर्ग के लोगों का ही बाहुल्य होता है। खासकर देवार जाति के लोग निरंतर संघर्ष की जिन्दगी जीते आए हैं। समाज में इनका कोई स्थान नहीं होता। हर दृष्टि से सताये इन लोगों की मेहनत के बल पर समाज के उच्च वर्ग के लोग ऐश करते हैं। वर्ग भेद की वो खाई आज भी उतनी ही चौड़ी है, जितनी पहले कभी हुआ करती थी। यही कारण है कि नाचा के माध्यम से समाज में पैसे के बल पर आतंक जमाये रखने वाले लोगों की गलत जिन्दगी का पर्दाफाश किया जाता है।

नाचा गाँव की चौपाल से निकलकर नगर, महानगर तथा हबीब तनवीर के माध्यम से वैश्विक पटल पर जा पहुँचा है। हबीब तनवीर के जीवित रहने तक देश-देशांतरों में इसकी धूम मची हुई थी। चार बाँस के बीच चौकोर घेरे से प्रारंभ हुई इसकी यात्रा अन्तरराष्ट्रीय मंच तक जा पहुँची। विकास यात्रा के प्रारंभिक चरण में नाचा के प्रति सभ्य नागरिकों की दृष्टि उपहास जनक रही थी, परन्तु हबीब तनवीर के नाटकों के माध्यम से उनके रंगमंच में प्रमुख स्थान बना लेने के कारण अब वह सभ्रांत समाज में प्रतिष्ठित हो

चुका है, किन्तु वैश्वीकरण, उपभोक्तावादी संस्कृति की चकाचौंध, फिल्म के दुष्प्रभाव और अब हबीब तनवीर के निधन के बाद छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य नाचा को धूल के गुबार ने लपेटना शुरू कर दिया है, लेकिन अभी भी नाचा के सच्चे कलाकार एवं हबीब तनवीर के नया थियेटर के कलाकार गाँवों में छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति को बचाने में अपना अभूतपूर्व योगदान दे रहे हैं, लेकिन, कब तक ? उनके चले जाने के बाद उनके सामने रोजी-रोटी की समस्या पैदा हो गयी है। छत्तीसगढ़ नाचा के कलाकारों में चाहे ठाकुर राम हो अथवा भुलवा, मदन हो अथवा लालू, मन्साराम हो या किस्मत बाई, फिदाबाई हो अथवा वासंती महत्वपूर्ण प्रश्न इनके व्यक्तिगत जीवन का नहीं, बल्कि समूचे कला जगत का है, जिन पीढ़ाओं से ये गुजर रहे हैं, वह तकलीफ इस अंचल की रग-रग में बैठी हुई है।

धान का कटोरा कहे जाने वाला छत्तीसगढ़ प्रदेश एक नया प्रदेश है, जहाँ की लोक संस्कृति बहुत समृद्ध रही है। ये उचित समय है, जब हम अपनी लोक संस्कृति को सहेजें। ऐसे दौर में यह और भी ज़रूरी हो जाता है जब भूमंडलीयकरण, उदारीकरण का सुरसा लोक संस्कृति को लील ले रहा है। छत्तीसगढ़ प्रदेश देश के उन थोड़े से लोकचलों में अपनी जगह बनाता है, जिनके पास पारंपरिक कलाओं की समृद्ध गठरी है। यदि साइबर युग में भी यह गठरी बँधी हुई और बची हुई है, तो अपनी महक और ऊर्जा के कारण। इससे पहले ये ऊर्जा क्षीर्ण हो जाए, उसे बचाना हम सभी का परम दायित्व है। निर्मल वर्मा ने भी बहुत पहले शताब्दी के ढलते वर्षों में एक बात कही थी, जहाँ वे सुविख्यात नृत्य शास्त्री लेवी-स्ट्रॉस ने अपने इण्टरव्यू में कहा था कि "यदि संयोग से रेम्ब्राँ का कोई चित्र नष्ट हो जाता है, तो वह चाहे कितना बड़ा दुर्भाग्य क्यों न हो, हम आशा कर सकते हैं कि हजारों वर्ष बाद कभी रेम्ब्राँ की तरह चित्र बन सकेगा, किन्तु जब हम किसी कबीले, किसी ट्राइब या किसी पौधे की नस्ल को नष्ट कर देते हैं, तो वे दुनिया से हमेशा के लिए लोप हो जायेंगे और हम उन्हें फिर कभी अपने अनूठे, विशिष्ट स्वरूप में नहीं प्राप्त कर सकेंगे।"⁽¹⁾ यही बात लोक कलाओं और लोक संस्कृतियों पर भी लागू होती है, जिन्हें खो कर हम उसे पुनः अपने उसी रूप में नहीं प्राप्त कर सकते। अपनी संस्कृति को खो कर मनुष्य न अपने अतीत में झँक सकता है, न कुछ सीख प्राप्त कर सकता है और न अपने को उत्खनित कर सकता है, क्योंकि उसने अपने को उत्खनित करने के उन औजारों, लोक संस्कृति, लोक भाषा को खो दिया है। लोक संस्कृति, लोक भाषा से हुए इस विलगाव ने उन्हें बौद्धिक रूप से पंगु अथवा नकलची बना दिया है, क्योंकि सांस्कृतिक जीवन की विनष्टता के बिना किसी भी समुदाय अथवा देश की जनता को लम्बे समय तक शासित बनाये रखना संभव नहीं है। जैसा कि अमिल्कर कबराल कहते हैं, किसी देश की जनता पर शासन करने के लिए हथियारों की मदद से ज़्यादा कारगर तरीका यह है कि उसके सांस्कृतिक जीवन को या तो बिल्कुल लकवाग्रस्त कर दिया जाए या समाप्त कर दिया जाए। कारण स्पष्ट है कि अगर देशज सांस्कृतिक जीवन शक्तिशाली रूप में मौजूद रहेगा, तो प्रभुत्वकारी वर्ग कभी निश्चित होकर अपना शासन स्थायी नहीं बना सकता।

भारत का सांस्कृतिक जीवन इन दिनों दुनिया के ऐसे

समाजों की सूची के शीर्ष पर है, जिस पर बहुराष्ट्रीय निगमों की आसक्त और अपलक आँखें निरंतर लगी हुई हैं। एक अरब इक्कीस करोड़ जनता का खुला बाजार उनके सामने पसरा हुआ है। एक अल्प-उपभोगवादी भारतीय प्रवृत्ति को पूरी तरह उपभोक्तावादी बनाने की व्यग्रता से भरने में वे जी-जान से जुट गए हैं। भूमंडलीकरण के कर्णधारों तथा अर्थ व्यवस्था के महाबलीश्वरों के आगमन में आने वाली अड़चनों को खत्म करने के लिए उन्होंने कमर कस ली है। इन अड़चनों की फेहरिस्त में वे तमाम चीज़ें आती हैं, जिनसे राष्ट्रियता की गंध आती है और यह गंध फैला रही है, हमारी लोक संस्कृति, इतिहास और सभी भारतीय भाषाएँ। अपने देश की जिस नाट्य परंपरा को स्वयं हमने पिछड़ी हुई गंवारु और अनाटकीय कहकर ठुकरा दिया था या हिकारत से देखने लगे थे, उनमें पश्चिम के अनेक प्रतिभावान् रंगकर्मियों को अपने रंगमंच के संकट के हल के लिए कुछ उपयोगी सूत्र नज़र आ रहे थे। उन्हीं सूत्रों को पकड़ कर हबीब तनवीर ने बहुत पहले से नाट्य मंचन में एक चमत्कार भर दिया और नयी ताज़गी ला दी थी। उसी लोकधर्मी नाट्य परंपरा ने भाषाओं की सीमा को लाँघ कर अन्तरराष्ट्रीय मंच पर छत्तीसगढ़ी बोली में कही हुई बात को समझने में किसी प्रकार की बाधा का अहसास नहीं होने दिया। हबीब तनवीर ने इसीलिए अपनी लोक संस्कृति को कभी नहीं छोड़ा। अपने रंगकर्म में उन्होंने छत्तीसगढ़ी लोक को पूरी तरह रूपायित किया चाहे भाषा के स्तर पर हो या लोक गीत, लोक नाट्य, लोक संगीत, लोक कथा के स्तर पर हो, उन्हें अपने नये मुहावरे की तलाश की ठौर यहीं आकर प्राप्त हुई, जिसने उन्हें और उनके साथ ही छत्तीसगढ़ के नाम को बुलंदियों के मकाम तक पहुँचा दिया। ये उसी लोक का कमाल था, जिसके कारण उनके नाटकों के शो कभी दर्शकों के मोहताज नहीं हुए। आज उनके नहीं रहने पर छत्तीसगढ़ी लोक के आँगन में धूल का गुबार छाया हुआ है, जिसे बुहारना अपनी संस्कृति को बचाने के लिए बेहद ज़रूरी है। शासन के नीति निर्धारकों को यह समझाया जाना बेहद ज़रूरी है कि उनके संरक्षण और पहल के बिना अपनी समृद्ध लोक संस्कृति वैश्वीकरण के दौर में चाह कर भी बच नहीं सकती, जिसे बचाया जाना आने वाली पीढ़ी के लिए भी बेहद ज़रूरी है। इससे पहले कि हमारी जीवंत लोक संस्कृति मृतप्राय हो म्यूजियम की शोभा बढ़ाने लगे कुछ ठोस कदम उठाना ज़रूरी है। शासन के साथ ही लोक कलाकारों, साहित्यकारों, रंगकर्मियों का भी ये परम दायित्व है कि वे इस दिशा में पहल करें।

संदर्भ :

(1) वर्मा, निर्मल (1985) : *ढलान से उतरते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 79.*



शोध-पत्र लेखिका इसी विषय पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के माइनर रिसर्च प्रोजेक्ट पर कार्यरत हैं।



विवेकानंद और नारी जागरण

प्रस्तुत शोधपत्र, विवेकानंदजी और नारी जागरण से सम्बंधित है। सृजन और निर्माण करने वाली नारी शक्ति के सम्मान के लिए विवेकानंदजी निरंतर प्रयत्नशील रहे। भारत को सम्बोधित करते हुए विवेकानंदजी के ओज से भरपूर ये शब्द निःसंदेह अनमोल हैं कि, “भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है, मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमाशंकर हैं, मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए अथवा अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है, मत भूलना कि तुम जन्म से ही माता के बलिस्वरूप रखे गए हो, मत भूलना कि तुम्हारा सम्राट उस विराट महायात्रा की छाया मात्र है।”

डॉ. अनसूया अग्रवाल

“नर से भारी नारी, एक नहीं दो— दो मात्राएँ।” कहकर राष्ट्र कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने नारी के महत्व को रेखांकित किया है। नारी नर से महत्वपूर्ण है या नहीं? यह कोई बहस का मुद्दा नहीं है, अपितु ‘नारी भी महत्वपूर्ण है’ इस तथ्य को स्वीकार न करना बहस को जरूर जन्म दे सकता है। कारण यह है कि इस मही यानि धरा पर नारी; जीवन की सरलता युक्त ज्ञान गम्यता, कोमलता युक्त दृढ़ता और त्यागमयी गुणों से युक्त वह अन्नपूर्णा है, जो देना ही जानती है; लेने की आकांक्षा जिसमें कभी नहीं रही। जो सेवा को अपना अधिकार समझती है, इसलिए यह देवी है। जो त्याग करना जानती है इसलिए साम्राज्ञी है। जो जननी है, इसलिए ब्रह्म स्वरूपा है। जो पर्वों और उत्सवों के बहाने उस पर्यावरण को संरक्षित करना जानती है, जिसके वात्सल्यमयी आँचल में विश्व स्थान पाता है; इसलिए वह जगत माता है। जो सत्य है, सुंदर है, सरल है, पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना को साकार करने वाली सतरूपा है, विकास का मार्ग प्रशस्त करने वाली कार्यशाला है। हमारी संस्कृति में जो कुछ भी सुन्दर है, शुभ है, कल्याणकारी है, मंगलकारी है; उसकी कल्पना नारी रूप में की गई है। राम से पहले सीता को याद करना, कृष्ण से पहले राधा का नाम लेना, पिता के पहले माता को संबोधित किया जाना इस बात का सूचक है कि हमारे यहाँ नारी के महत्व को प्राचीनकाल से ही पहचान लिया गया था। तभी तो जयशंकर प्रसाद ने भी लिखा है—

“नारी तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नभ पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में।”

कहा भी जाता है कि किसी भी देश की स्थिति और प्रगति

का अनुमान लगाना हो तो उस देश में नारी की स्थिति का अध्ययन करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि नारी अस्मिता और देश की अस्मिता का जुड़ाव बिंदु एक ही है। नारी—पुरुष परस्पर पूरक होते हुए भी दो स्वतंत्र इकाइयाँ हैं। दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है, दोनों की स्वतंत्र अस्मिता ही स्वस्थ, सुदृढ़ और संतुलित समाज का आधार है। यह संतुलन जब भी विकृत हुआ है; सामाजिक ढांचा बिखरा है, चरमराया है, विघटित हुआ है। देश की स्वाधीनता से पूर्व जनजागरण काल के महापुरुषों ने इस तथ्य को भली— भांति समझ लिया था; विशेषकर स्वामी विवेकानंद ने। तब नारी का कर्तव्य केवल घर, परिवार या समाज तक ही सीमित था। स्वयं का उत्थान, सामाजिक रीतियों में सुधार कर अपनी उपस्थिति रचनात्मक भूमिका में दर्ज कराना, साक्षर होना, पुरुषों की तरह राजनैतिक, आर्थिक, नागरिक अधिकार को प्राप्त करना आदि— अधिकारों से नारी वंचित थी। ऐसे समय में स्वामी विवेकानंद का ध्यान सबसे पहले इस ओर गया। वे नारी की स्थिति को लेकर चिंतित हो गए। वे अपने भाषणों, पत्रों और व्याख्यानों में चिंता प्रकट करने लगे, क्योंकि वे मानते थे कि किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसका एक अंग शक्तिहीन होगा। ठीक उसी तरह जिस तरह पाँव के सहारे कोई उड़ नहीं सकता। उन्होंने महसूस किया कि नारी की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक स्थिति बहुत कमजोर है। उनकी यह प्रबल धारणा थी कि नारी का शैक्षणिक विकास बहुत आवश्यक है। वे यह भी मानते थे कि निरक्षर, अधिकार विहीन, घर की चारदीवारी में कैद माताओं की गोद में पलकर पुरुष भी निरंतर बलहीन और कमजोर हो रहा है। इसलिए उन्होंने तत्काल स्त्री जागरण का शंखनाद किया। वे चाहते थे कि नारी अपने सभी रूपों में समादृत हो। नारी जननी, भगिनी, मित्र,

सेविका, सहचर सभी रूपों में वंदनीय है। नारी का विकास उनके जीवन का चरम लक्ष्य था। वे मानते हैं कि नारियों का विकास ही राष्ट्र का विकास है। वे कहते हैं कि नारी के दो रूप हैं— एक कामिनी का, दूसरा माता का। जहाँ नारी के कामिनी रूप की पूजा होगी, वहाँ नाश होगा, किंतु जहाँ नारी के मातृ रूप की पूजा होगी, वहाँ देव स्वयं आकर वास करेंगे,

“यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते, तत्र देवता रमन्ते।”

उनकी दृष्टि में नारी भारत माँ थी। उनके कहे वाक्य आज भी कानों में गूँजते हैं कि “राष्ट्र को ही हम देव समझें। अभी सभी देवताओं को सोने दो। केवल भारत माँ की पूजा ही सबसे बड़ी पूजा है। कुछ वर्षों तक मातृभूमि रूपी माँ की ही अराधना करनी होगी।” दरअसल स्वामी जी की अराध्या तो मातृभूमि ही थी। सब देवों की देव। इस राष्ट्र की अराधना में वे अपनी ही नहीं संपूर्ण देशवासियों की सारी शक्ति लगाना चाहते थे और इसके लिए सबके साथ स्त्री शक्ति को जगाना बहुत आवश्यक था। उस समय उन्होंने नारी जागरण की जो लौ जलाई थी, उसके कारण स्वतंत्रता संग्राम में भी महिलाओं को जागृत करने में काफी सुविधा मिली और तबसे अब तक यानि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी स्त्री जागरण और उसकी शिक्षा का प्रयास सतत् जारी है।

माँ के प्रति परम पूज्य भाव हमें उनकी आत्मकथा के प्रारंभ में ही देखने को मिलता है। जब वे लिखते हैं, “मैं जानता हूँ कि मेरे जन्म से पहले मेरी माँ व्रत उपवास किया करती थी, प्रार्थना किया करती थी और भी हजारों ऐसे कठिन कार्य करती थी, जो मैं पाँच मिनट भी नहीं कर सकता। दो वर्षों तक उन्होंने यही सब किया। मुझमें जितनी भी धार्मिक-सांस्कृतिक शक्ति मौजूद है, उसके लिए मैं अपनी माँ का कृतज्ञ हूँ। आज मैं जो बना हूँ, उसके लिए मेरी माँ ही सचेतन भाव से मुझे इस धरती पर लाई है। मुझमें जितना भी आवेग मौजूद है, वह मेरी माँ का ही दान है और यह सारा कुछ सचेतन भाव से है, इसमें बूंद भर भी अचेतन भाव नहीं है। मेरी माँ ने मुझे जो प्यार, ममता दी है, उसी के बल पर वर्तमान के “मैं” की सृष्टि हुई है। उनका यह कर्ज मैं किसी दिन भी नहीं चुका पाऊंगा।” नारी के प्रति ऐसी अद्भूत और महान सोच रखने वाला व्यक्ति ही महापुरुष बन सकता है। इसलिए ही तो विवेकानंद महापुरुष कहलाए। किसी ने सच ही कहा है कि “हमें अपनी नींव नहीं छोड़नी चाहिए। चाहे हम कितनी भी तरक्की क्यों न कर लें।” विवेकानंद इसके मूल उदाहरण हैं।

रामकृष्ण आश्रम में भी वे माँ के परम भक्त थे। तभी तो माँ के आश्रम में उन्होंने अद्भूत शक्ति प्राप्त की थी। उन्होंने आयरिस प्रवासी अपनी शिष्या और अपनी अनन्य भक्त मारग्रेट नोबेल, जिसका नाम उन्होंने ‘निवेदिता’ दिया था; उसके लिए उन्होंने अंग्रेजी में जो पंक्तियाँ लिखी थी, उसका हिंदी अनुवाद इस तरह है—

*“माँ का हृदय, वीर की दृढ़ता, मलय पवन की मधुता,
ज्वलंत आर्यवेदी की पावन शक्ति और मोहकता,
ये वैभव सब अन्य और जो जन के स्वप्न बने हों,
तुम्हें सहज ही आज प्राप्य हो निश्चल भाव में,
मित्र, सेविका और बनो तुम मंगलमय कल्याणी।”*

भारतीय संस्कृति का ताना-बाना इन्हीं गुणों के आधार पर

बुना जा रहा है। जहाँ तक मारग्रेट का लंदन में मिलना, उनके अंदर प्रस्थापित आध्यात्मिक अनुत्तरित प्रश्नों के जवाब संभाषणों, प्रश्नोत्तर और बातचीत में मिलने का वर्णन है, वे सब प्रमाणित करते हैं कि निवेदिता अपने मन में उठे जीवन और जगत् सम्बंधी प्रश्नों का उत्तर पाकर ही भारत आने के लिए व्याकुल हुई थी। विवेकानंदजी ने भगिनी निवेदिता के अंदर उन गुणों के प्रस्थापित होने की कल्पना की है, जो एक भारतीय स्त्री के सनातन गुण माने जाते रहे हैं। वे मानते हैं कि इन गुणों को धारण करके ही पुरुषों से श्रेष्ठ मानी जाती रही हैं। दरअसल उसकी एक स्थायी विशेषता ‘निर्मात्री’ का रहा है। वह पुत्र ही नहीं, पति की भी निर्मात्री रही है। परिवार, समाज, संस्कार सबकी निर्मात्री। इसलिए ही स्वामी जी द्वारा भगिनी निवेदिता में प्रस्थापित गुणों का आकलन समझने, विचारने और आज भी युवतियों द्वारा अनुकरण करने योग्य है। उन्होंने कहा— “तुम्हारा हृदय माँ का हृदय है। माँ की ममता की तुलना किसी भाव से नहीं हो सकती। अतुलनीय है ममत्व।” इसलिए तो कहा जाता है कि साधु, संत, राजनेता और बड़े साहित्यकार भी तभी व्यक्ति और समाज के विकास के लिए समुचित प्रयास करते हैं, जब उनके अंदर माँ की ममता की अनुकृति होती है। कहा भी गया है— “ममता जब विस्तार लेती है, तो सागर को भी अपने आंचल में समा लेती है।” समाज के समतायुक्त विकास के लिए ममता चाहिए। ममता, माँ के हृदय का आभूषण है, जो संतान के विकास में कभी मोम तो कभी पत्थर सी हो जाती है। विवेकानंद जी ने भगिनी निवेदिता के हृदय को माँ का हृदय और वीर की दृढ़ता दोनों कहा है। उस दृढ़ता में भी मलय पवन की मधुरता का संचार रहता है।

एक दृष्टांत प्रस्तुत है, “एक विदेशी महिला स्वामी विवेकानंद के समीप आकर बोली कि मैं आपसे शादी करना चाहती हूँ। विवेकानंद बोले— “क्यों? मुझसे क्यों? क्या आप जानती नहीं कि मैं एक सन्यासी हूँ।” औरत बोली — “मैं आपके जैसा ही गौरवशाली, सुशील और तेजोमयी पुत्र चाहती हूँ। और वह तभी संभव होगा, जब आप मुझसे विवाह करेंगे।” विवेकानंद बोले— “हमारी शादी तो संभव नहीं है। परंतु हाँ.... एक उपाय है।” औरत बोली— “क्या?” विवेकानंद बोले— “आज से मैं ही आपका पुत्र बन जाता हूँ। आज से आप मेरी माँ बन जाओ। आपको मेरे रूप में मेरे जैसा बेटा मिल जाएगा।” औरत विवेकानंद के चरणों में गिर गई और बोली — “आप साक्षात् ईश्वर के रूप हैं।” इसे कहते हैं नारी के प्रति पुरुष का सम्मान। और ये होता है पुरुषार्थ! एक सच्चा पुरुष वही होता है, जो हर नारी के प्रति अपने अंदर मातृत्व की भावना उत्पन्न कर सके।

स्वामी जी ने नारी में पुरुष की मित्र और सेविका होने की भी परिकल्पना की है। मात्र पुरुष के लिए ही क्यों, उसे तो ‘मंगलमय कल्याणी’ बनना है। स्वामी जी मानते हैं कि अनादिकाल से वेद, पुराणों और भागवत साहित्य में भी नारी के अंदर के इन्हीं गुणों का निरूपण होता आया है। इन्हीं गुणों के आधार पर महिलाएँ व्यक्ति, परिवार और समाज का ही नहीं राष्ट्र का भी संरक्षण, पोषण और पल्लवन कर सकती हैं।

नारी को लेकर स्वामी जी के निर्मल चित्त में अतीत, वर्तमान और भावी समाज का जो चित्र प्रतिफलित हुआ था, वह एक ऐसा

सनातन रूप है, जो काल के विपर्यय में म्लान नहीं होता। नारी समाज के संबंध में उनकी उक्तियाँ आज भी इसलिए उज्ज्वल तथा समाज जीवन के लिए उपयुक्त हैं, क्योंकि वे थे “आमूल संस्कारक।” सदा परिवर्तनशील समाज की क्षणिक तृप्ति के लिए उन्होंने संस्कार के कृत्रिम प्रस्त्रवण की रचना कर प्रशंसा अर्जन नहीं की। वे मन से चाहते थे कि समाज की जीवन शक्ति प्रबुद्ध हो; जिससे उनके हृदय में आनंद की शतधारा स्वतः ही उच्छवासित हो सके।

निसंदेह इसका श्रेष्ठ उदाहरण जनकनंदिनी सीता है, क्योंकि यदि हम विश्व के भूतकालीक साहित्य को खोजें और भविष्य में होने वाले साहित्य का भी मंथन करने के लिए तैयार रहें, तो भी हमें सीताजी के समान भव्य आदर्श कहीं प्राप्त नहीं होगा। सीताजी का चरित्र अद्भूत रम्य है। सीताजी के चरित्र का उद्भव विश्व इतिहास की वह घटना है, जिसकी पुनरावृत्ति संभव नहीं है। यह संभव है कि अनेक राम का जन्म हो, किंतु दूसरी सीता कल्पनातीत है।

तभी तो आज सहस्रों वर्षोपरान्त भी भगवती सीता काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कच्छ से कामरूप तक; क्या पुरुष, क्या स्त्री और क्या बालक— बालिका..... सभी की अराध्य देवी बनी हुई हैं। पवित्रता से भी अधिक पवित्र, धर्म और सहनशीलता की साक्षात् प्रतिमा जनकसुता सीता सदासर्वदा इस महान पद पर आसीन रहेंगी।

सचमुच नारी की आंतरिक शक्ति बड़ी सुदृढ़ है, वो हर विपरीत परिस्थितियों का डटकर सामना कर सकती है। न केवल स्वयं अपितु समाज के भटकाव और बिखराव को भी वो रोक सकती है, क्योंकि वो आलोकमयी, निर्मल और निश्छल है। वो निर्भीकता से सत्य का उद्घाटन कर सकती है। वह सृजन है, संहार नहीं। समर्पण है, उन्माद नहीं। नारी जब संकल्पित होती है, तो स्वयं को प्रमाणित कर दिखाती है। दिनकर का लिखा यह वाक्य सत्य है— “मानव जब जोर लगाता है, पत्थर पानी हो जाता है।” यह उक्ति नारी के संदर्भ में सत्य है।

सृजन और निर्माण करने वाली इस नारी शक्ति के सम्मान के लिए विवेकानंद निरन्तर प्रयत्नशील रहें। भारत को संबोधित करते हुए विवेकानंद जी के ओज से भरपूर ये शब्द निसंदेह अनमोल हैं कि “भारत! तुम मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है, मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमाशंकर हैं, मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, तुम्हारा धन और तुम्हारा जीवन इन्द्रिय— सुख के लिए अथवा अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही माता के बलिस्वरूप रखे गए हो; मत भूलना कि तुम्हारा सम्राट उस विराट् महायात्रा की छाया मात्र है।”



UGC - APPROVED - JOURNAL	
UGC Journal Details	
Name of the Journal :	Research Link
ISSN Number :	09731628
e-ISSN Number :	
Source :	UNIV
Subject :	Accounting;Anthropology;Business and International Management;Economics, Econometrics and Finance(all);Education;Environmental Science(all);Finance;Geography, Planning and Development;Law;Political Science a;Social Sciences(all)
Publisher :	Research Link
Country of Publication :	India
Broad Subject Category :	Arts & Humanities;Multidisciplinary;Social Science
Print	

शोध-पत्र भेजने संबंधी नियम

- (1) शोध-पत्र 1500-1700 शब्दों से अधिक नहीं होना चाहिए।
- (2) हिन्दी एवं मराठी माध्यम के शोधपत्रों को कृतिदेव 10 (Kruti Dev 010) में टाईप करवाकर ‘पेजमेकर 6.5’ में भेजें।
- (3) पंजाबी माध्यम के शोधपत्रों को अनमोल लिपि (AnmolLipi) या अमृत बोली (Amritboli) या जॉय (Joy) में टाईप करवाकर ‘पेजमेकर 6.5’ में भेजें।
- (4) अंग्रेजी माध्यम के शोधपत्र टाईम्स न्यू रोमन (Times New Roman), एरियल फॉन्ट (Arial) में टाईप करवाकर ‘पेजमेकर 6.5’ या ‘माइक्रोसाफ्ट वर्ड’ में भेजे जा सकते हैं।
- (4) शोधपत्र की विधि - (1) शीर्षक (2) एबस्ट्रेक्ट (3) की-वर्ड्स (5) प्रस्तावना/प्रवेश (5) उद्देश्य (6) शोध परिकल्पना (7) शोध प्रविधि एवं क्षेत्र (8) सांख्यिकीय तकनीक (9) विवेचन या विश्लेषण (10) सुझाव (11) निष्कर्ष एवं (12) संदर्भ ग्रंथ सूची।
- (6) संदर्भ ग्रंथ सूची इस प्रकार दें -

For Books :

- (1) Name of Writer, "Name of Book", Publication, Place of Publication, Year of Publication, Page Number/numbers.

For Journals :

- (2) Name of Writer, "Title of Article", Name of Journal, Volume, Issue, Page Numbers.

Web references :

<http://utc.iath.virginia.edu/interpret/exhibits/hill/hill.html>

- (7) गुजराती माध्यम के शोधपत्र हरेकृष्णा (Harekrishna), टैराफॉन्ट वरुण (Terafont Varun), टैराफॉन्ट आकाश (Terafont Aaksah) में टाईप करवाकर ‘पेजमेकर 6.5’ में भेजे जा सकते हैं।

- (8) शोधपत्र की साफ्टकॉपी रिसर्च लिंक के ई-मेल आईडी researchlink@yahoo.co.in पर भेजने के बाद हॉर्डकॉपी, शोधपत्र के मौलिक होने के घोषणा पत्र के साथ हस्ताक्षर कर ‘रिसर्च लिंक’ के कार्यालय को प्रेषित करें।





स्वामी विवेकानंद : एक प्रेरणादायक व्यक्तित्व

प्रस्तुत शोधपत्र, स्वामी विवेकानंदजी के व्यक्तित्व और उनके विचारों से सम्बंधित अध्ययन पर आधारित है। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत स्वामी विवेकानंदजी के नारी, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विचार समाज का सदैव पथ-प्रदर्शित करते रहे हैं। उन्होंने कहा है कि जो शिक्षा लोगों को जीवन में संघर्ष करने का सामर्थ्य प्रदान नहीं करती, ऐसी शिक्षा का कोई लाभ नहीं है। उन्होंने यह भी कहा था, कि हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और व्यक्ति स्वावलम्बी बने। शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करते हुए उनका मानना था कि शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है। वे मनुष्य की अपनी अंतरात्मा को सबसे बड़ा शिक्षक मानते हैं।

डॉ. अरुणा चोपड़ा

युवा पीढ़ी के आदर्श, समाज सुधारक, भारतीय संस्कृति एवम् मूल्यों के प्रचारक, वेदान्त के प्रसिद्ध व्याख्याता स्वामी विवेकानंद जी का जन्म उन परिस्थितियों में हुआ, जब भारत में राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल थी। अंग्रेजों ने भारतीयों को न केवल गुलामी के शिकंजे में फँसाया हुआ था, बल्कि उनके आत्मविश्वास और बल को भी कमजोर कर दिया था। लोगों में हीनता की भावना घर कर गई थी तथा विधि का विधान समझकर, दुर्व्यवहार तथा शोषण को ही अपना भाग्य स्वीकार कर लिया था। ऐसे ही स्वामी विवेकानंद का आगमन अँधेरे को चीरती हुई उस लौ के समान था, जिसने अपने प्रकाश से देशवासियों को ही नहीं, बल्कि विदेशियों को भी अपने तेज और प्रकाश से प्रकाशित किया तथा जन-जन में चेतना का संचार किया।

स्वामी विवेकानंद जी का जन्म 12 जनवरी 1863 ई0 में हुआ, जिसे आज 'राष्ट्रीय युवा दिवस' के रूप में मनाया जाता है। इनका वास्तविक नाम नरेन्द्र नाथ दत्त था। बचपन से ही इनके मन में परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा थी। आध्यात्म में विश्वास तथा परमात्मा से मिलन की तीव्र उत्कंठा ने ही इनको अपने इस उद्देश्य की ओर अग्रसर किया। अपने मन तथा हृदय की शांति के लिए ये ब्रह्म समाज की ओर प्रेरित हुए, किन्तु इन्हें वहाँ संतुष्टि प्राप्त नहीं हुई। बाद में रामकृष्ण परमहंस को इन्होंने अपना गुरु बनाया तथा अपने आध्यात्मिक प्रश्नों का समाधान प्राप्त किया। हर समय वे अपने गुरु की सेवा में ही लीन रहते थे। इनके गुरु ने ही इनको विवेकानंद नाम दिया, उसके बाद ये स्वामी विवेकानंद के नाम से प्रख्यात हुए।

अमरीका में शिकागो में 1893 में जब विश्वधर्म सम्मेलन हुआ, तो इन्होंने भारत की ओर से प्रतिनिधित्व किया। स्वामीजी ने

सबसे अंत में भाषण दिया तथा अपने भाषण की शुरुआत "मेरे अमेरिकी भाइयों और बहनों" से की थी। ये शब्द सुनकर सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। इन्होंने निर्धारित समय से अधिक समय तक भाषण दिया, किंतु सभी इनके भाषण से सम्मोहित थे। इसके बाद तो इनकी पूरे विश्व में प्रसिद्धि फैल गई। देश में ही नहीं, विदेशों में भी इनके शिष्यों ने इनके आदर्शों को अपने जीवन में ग्रहण किया। आज भी यह भाषण स्वामी जी के नाम से याद किया जाता है।

विवेकानंद जी ने सदैव अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति का संदेश देकर मानव जाति का कल्याण किया। उनका विश्वास था कि जब तक किसी लक्ष्य को प्राप्त करने की तीव्र इच्छा नहीं होगी, तब तक हमारे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इनका कथन है कि "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।"

भाव यह है कि उठो, जागो और ध्येय की प्राप्ति तक रूको मत। हमें अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों से डरकर या घबराकर नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए, बल्कि एक नई ऊर्जा, स्फूर्ति तथा सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत करके फिर से प्रयत्न करने चाहिए।

प्रेरणादायी व्यक्तित्व स्वामी विवेकानंद जी का कथन है, "मैं सिर्फ और सिर्फ प्रेम की शिक्षा देता हूँ और मेरी सारी शिक्षा वेदों के उन महान सत्यों पर आधारित है, जो हमें समानता और आत्मा की सर्वत्रता का ज्ञान देती है।" स्वामीजी प्रेम को ही जीवन का आधार मानते थे तथा सम्पूर्ण मानव जाति से प्रेम करते थे तथा मनुष्यों को सभी मनुष्यों से प्रेम करने की प्रेरणा देते थे। एक बार स्वामी विवेकानंद एक सन्यासी की वेशभूषा पहन कर ट्रेन में सफर

कर रहे थे। ट्रेन में बैठा हुआ एक अन्य यात्री उनके भगवा वस्त्रों को देखकर उनको अपशब्द कहने लगा, किंतु विवेकानंद जी को न तो उस पर क्रोध किया तथा न ही उसको कोई उत्तर दिया बल्कि चेहरे पर तेज व मुस्कुराहट थी, मानो उनका तेज व मुस्कुराहट ही उनका उत्तर दे रहे थे। उस समय स्वामी विवेकानंद जी को भूख लगी हुई थी। वे स्टेशन पर उतरे तथा वृक्ष के नीचे बैठ गए तथा सोचने लगे कि जो ईश्वर चाहता है, वही होता है। उसी समय एक व्यक्ति हाथ में भोजन लिए उनसे पूछता है कि क्या आपका नाम विवेकानंद है? विवेकानंद जी के हाँ कहने पर वह व्यक्ति उनके चरणों में गिर कर बोला कि आज भगवान उसके सपने में आए तथा कहने लगे कि मेरे एक भक्त विवेकानंद को भूख लगी है, तुम जाओ और उसके लिए भोजन का प्रबन्ध करके आओ। जो यात्री ट्रेन में बैठा था, वह यह दृश्य देखकर आया तथा वह भी स्वामी जी के चरणों में गिरकर उनसे क्षमा मांगने लगा। स्वामी विवेकानंद जी ने उन्हें प्रेम से उठाया तथा गले लगा लिया।

स्वामी विवेकानंद जी ने अपने वचनों से लोगों में चेतना का संचार किया तथा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दी। उनका कथन है, "अगर पैसे से किसी इंसान की मदद की जाए, तो यह पैसे का मूल्य है, लेकिन अगर पैसा किसी के काम न आ सके तो वो एक बुराई के ढेर के समान है, जिससे जल्द से जल्द छुटकारा पाना जरूरी है।" स्वामी जी की पैसे से विरक्ति का अंदाज़ा एक प्रसंग से लगाया जा सकता है। एक बार स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानंद जी से कहा, "मेरे पास आठ सिद्धियाँ और नौ निधियाँ हैं। मैं चाहता हूँ, वह सब तुम्हें दे दूँ। बोल, लेगा?" लेकिन स्वामी विवेकानंद जी कहते हैं, "इनसे मुझे ईश्वर मिलेगा क्या?" अपने गुरु के न कहने पर वे पुनः कहते हैं, "यदि उनसे ईश्वर नहीं मिलता, तो फिर वे मेरे किस काम की? मुझे अनावश्यक वस्तुओं को सहेजे रखने की कोई इच्छा नहीं है।"

भारतीय नवजागरण के अग्रदूत स्वामी विवेकानंद जी के शैक्षिक विचार भी प्रासंगिक हैं तथा हमारा मार्गदर्शन करते हैं। उनके अनुसार जो शिक्षा लोगों को जीवन में संघर्ष करने का सामर्थ्य प्रदान नहीं करती, ऐसी शिक्षा का कोई लाभ नहीं है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार, "हमें ऐसी शिक्षा चाहिए, जिससे चरित्र का गठन हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और व्यक्ति स्वावलम्बी बने।" शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करते हुए कहते हैं, "शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।" विवेकानंद जी मनुष्य की अपनी अंतरात्मा को सबसे बड़ा शिक्षक मानते हैं।

**"भारत की माटी मेरा स्वर्ग है,
भारत का कल्याण ही मेरा कल्याण है,
फेंक दे यह भांख बजाना,
छोड़ दे प्रशस्ति गान करना,
यदि तेरे पास दो वक्त की रोटी न हो"**

विवेकानंद जी का नारी विषयक चिंतन भी उनकी प्रखर बुद्धि का परिचायक है। स्वामी विवेकानंद जी नारी शिक्षा के पक्षधर थे। उनका विश्वास था कि स्त्रियों को ऐसी शिक्षा प्रदान करनी चाहिए, जिससे वे अपने कर्तव्यों का उचित रूप से पालन कर सकें तथा रानी लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई, संघमित्रा आदि के

जीवन से प्रेरणा लेकर अपना गौरव बढ़ा सकें। नारी शिक्षा का पक्ष लेते हुए वे कहते हैं, "नारियां महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने उन्हें ऊपर नहीं उठाया तो यह सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है? संसार की सभी जातियाँ नारियों का सचमुच सम्मान करके ही महान हुई हैं, जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

सार रूप में हम कह सकते हैं कि स्वामी विवेकानंद जी के जीवन, शिक्षा, नारी, मन, विकास आदि से सम्बन्धित विचार आज भी हमारा मार्गदर्शन करते हैं, जिसके लिए भारतीय इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

संदर्भ :

- (1) इन्दिरा, मोहन (2013) : 'स्वामी विवेकानंद और नारी चेतना', www.panchjanya.com
- (2) शर्मा, ओम प्रकाश (1989) : 'स्वामी विवेकानंद', साहित्य केन्द्र प्रकाशन, दिल्ली।
- (3) भटनागर, राजेंद्र मोहन (2015) : 'विवेकानंद: जीवनी परक उपन्यास', राजपाल एण्ड संस, के.बी.एस. आफ़सेट प्रोसेस, दिल्ली।
- (4) कोहली, नरेंद्र (2004) : 'स्वामी विवेकानंद', नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, वसंत कुंज दिल्ली।
- (5) 'स्वामी विवेकानंद के अनमोल वचन,' भारत दर्शन, हिंदी साहित्यिक पत्रिका <https://www.bharatdarshan.co.nz>



UGC - APPROVED - JOURNAL

The screenshot shows the UGC Approved List of Journals website. The search results table is as follows:

View	Sl.No.	Journal No	Title	Publisher	ISSN	E-ISSN
View	1	40865	Research Link	Research Link	09731620	

Showing 1 to 1 of 1 entries